आनन्दकुमार

भारतीय कथाएं

राजपाल एण्ड सन्ज़

भारतीय कथाएं

महाभारत एवं पुराणों की चुनी हुई १८ शिक्षाप्रद कथाएं

आनन्दकुमार

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य : एक रुपया पचास पैसे

◇

आठवां संस्करण 1970;

शिक्षा भारती प्रेस, शाहदरा, दिल्ली, में मुद्रित

BHARATIYA KATHAEN

(Stories for children) *by* Anand Kumar Rs. 1.50

भूमिका

कोरे उपदेश से किसी विषय का ज्ञान तो कराया जा सकता है, परन्तु उस ज्ञान का किस अवसर पर किस ढंग से उपयोग करना चाहिए, यह बताना कठिन है। कथाओं द्वारा ज्ञान और ज्ञान का प्रयोग समझना सहज है। इसलिए प्राचीन पंडित लोग बहुत-सी शिक्षा छोटी-छोटी कथाओं द्वारा देते थे।

हमारे प्राचीन साहित्य में सैकड़ों शिक्षाप्रद सुन्दर कथाएं हैं। वे बालकों के लिए ही नहीं, बड़े लोगों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी हैं। ऋषि-मुनियों और राजाओं आदि के सम्बन्ध में जो उपाख्यान हैं, उनमें तो बहुत-सी ज्ञान और अनुभव की बातें मिलती हैं; पशु-पक्षियों की कहानियां भी शिक्षापूर्ण हैं। पहुंचे हुए ज्ञानियों के मुख से वे बालकों का मन बहलाने के लिए नहीं, किन्तु बड़े-बड़े राजाओं और विद्वानों को भी ज्ञान, कर्म और नीति आदि का उपदेश देने के लिए कही गई थीं। इससे इन कथाओं का महत्त्व समझा जा सकता है।

इस पुस्तक में सरल ढंग से लिखी हुई महाभारत और पुराणों की कुछ चुनी हुई कथाएं हैं। इनमें भर्ती की या बहु-प्रचलित कथाएं नहीं दी गई हैं। आशा है, बालक-बालिकाओं और नवयुवकों के मनोविनोद, बुद्धि-विकास और चरित्र-निर्माण के लिए वे उपयोगी सिद्ध होंगी।

—आनन्दकुमार

सूची
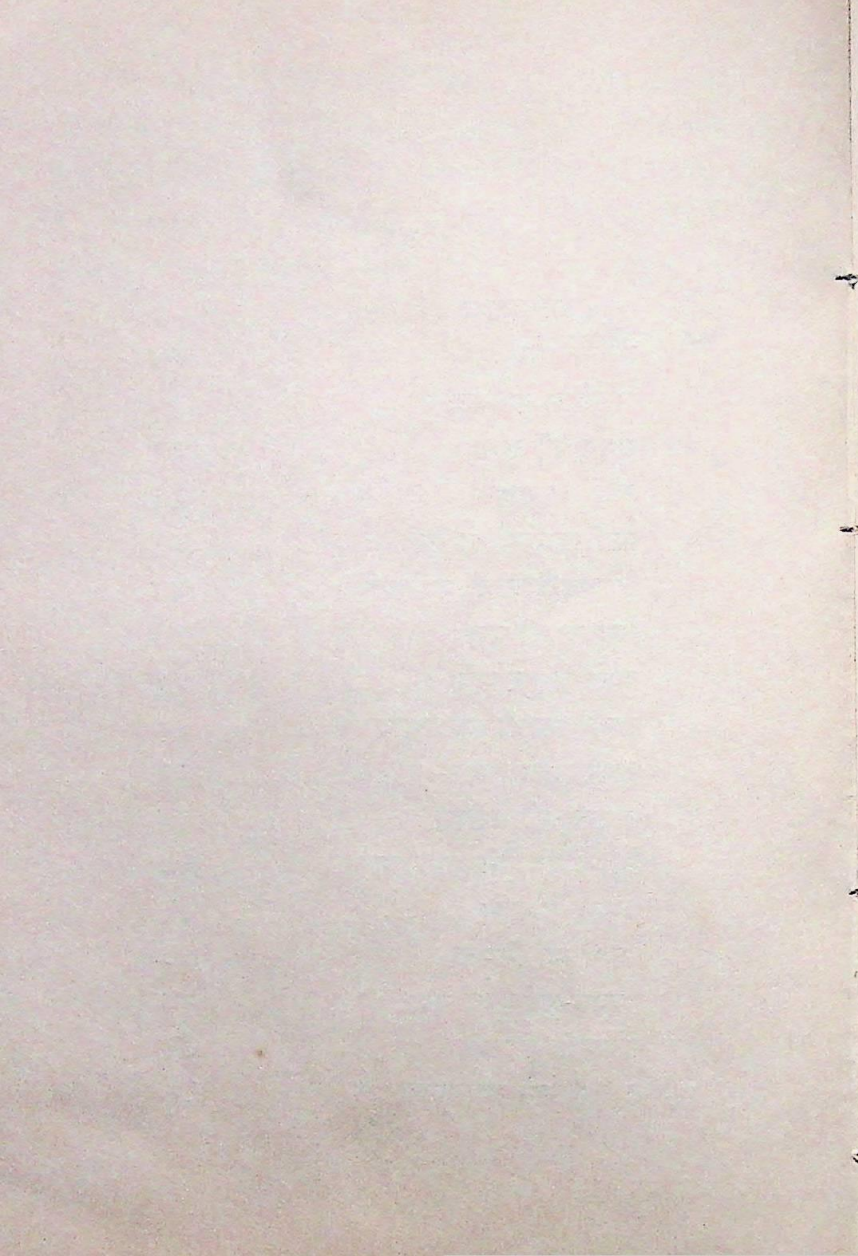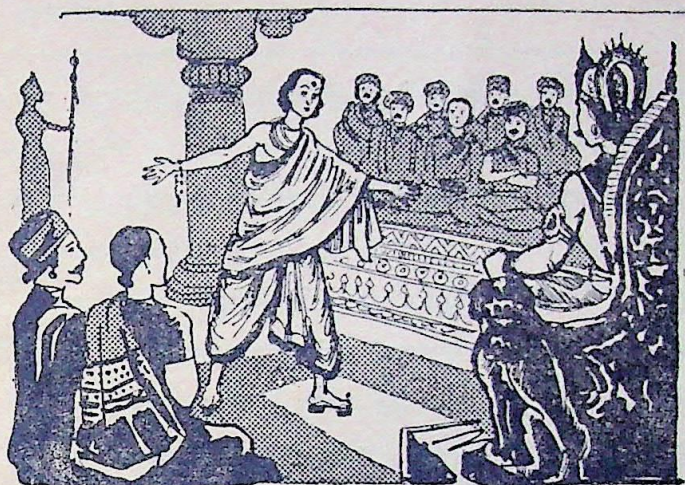
१

सुपुत्र का कर्तव्य

पुराणों में महर्षि अष्टावक्र की एक सुन्दर कथा है। उनके पिता का नाम कहोड़ था। वे संस्कृत के पंडित थे लेकिन घर के दरिद्र थे।

एक दिन कहोड़ बैठे हुए वेद का पाठ कर रहे थे। उसमें उनसे कहीं त्रुटि हो गई। इसपर अष्टावक्र ने उन्हें अशुद्ध पाठ करने से रोका। कहोड़ ने तुरन्त पुत्र को शाप देते हुए कहा—तू अभी से इतना कुटिल है, इसलिए मैं तुझे शाप देता हूं कि तेरा शरीर आठ जगह से टेढ़ा हो जाएगा।

पिता के शाप का प्रभाव बालक पर पड़ा। उसका

शरीर आठ जगह से टेढ़ा हो गया। इसीसे सब उसे अष्टावक्र कहने लगे।

अष्टावक्र के बचपन में ही कहोड़ धन की खोज में राजा जनक के यहां चले गए। उन दिनों जनक के दरबार में एक महादुष्ट राजपंडित रहता था। उसका नाम था वन्दी। वन्दी वहां आनेवाले पंडितों से शास्त्रार्थ करता और उन्हें पराजित करने के बाद समुद्र में डुबोने के लिए भेज देता था। कोई पंडित उससे लोहा लेने का साहस नहीं करता था, जो करता उसकी दुर्गति ही होती थी। धन के लोभ से बेचारे कहोड़ को भी उस प्रचंड पंडित से शास्त्रार्थ करना पड़ा। वन्दी ने अपने दीन-हीन प्रतिद्वंदी को शास्त्रार्थ में उसी प्रकार उखाड़ दिया जैसे सूखे पेड़ को तूफान। वन्दी ने उन्हें पकड़वा-कर जीते-जी समुद्र में फेंकने के लिए भेज दिया।

इधर बालक अष्टावक्र बड़े मनोयोग से अध्ययन करने लगा। बचपन से ही वह अपने नाना उद्दालक की गोद में बैठता, इसलिए उन्हींको अपना पिता समझता था। उसकी मां ने बाप के मारे जाने का हाल अपने बालक को नहीं बताया था। वह उद्दालक को ही उसका पिता बताती थी, जिससे अष्टावक्र अपने को अनाथ न समझे।

कुशाग्रबुद्धि अष्टावक्र ने ग्यारह-बारह वर्ष की अवस्था में ही सारे शास्त्रों का पूर्ण अध्ययन कर लिया। एक दिन वह उद्दालक की गोद में बैठकर उन्हें 'पिता, पिता' सम्बोधित करके बातें कर रहा था। इतने में उसका मामा श्वेतकेतु वहां आ गया। उसने अष्टावक्र का हाथ पकड़कर अपने पिता की गोद से खींच लिया और कहा—यह तेरे बाप की गोद नहीं है। इसपर मेरा ही अधिकार है।

अष्टावक्र ने अपनी मां से सारा हाल बताकर पूछा—मां, मेरा बाप कौन है, कहां है?

मां ने पहले तो उसे कुछ बताना उचित नहीं समझा, लेकिन पुत्र के हठ करने पर उसने आंखों में आंसू भरकर कहोड़ का शोचनीय वृत्तान्त सुना दिया। वन्दी के हाथों पिता के पराभव का हाल सुनकर अष्टा-वक्र क्रोध से उन्मत्त हो गया। उसने विदेह जाकर वन्दी से बदला लेने का निश्चय किया। उसके घरवालों ने वन्दी की दुर्दमता का विवरण बताकर उसे जनकपुरी जाने से रोका, लेकिन अष्टावक्र नहीं माना। वह कई दिनों के बाद पैदल चलकर विदेहराज के द्वार पर पहुंचा। वहां उसने द्वारपाल से भीतर जाने की आज्ञा मांगी।

द्वारपाल ने कहा—तुम अपने आने का प्रयोजन बताओ, तभी मैं तुम्हें भीतर जाने की अनुमति दे सकता हूं। अष्टावक्र ने अभिमान से सिर ऊंचा करके कहा—मैं विदेह के नामी राजपंडित वन्दी से शास्त्रार्थ करने आया हूं।

बालक की वाणी सुनकर द्वारपाल ने हंसकर कहा—अरे नादान बच्चे, पत्थर पर अपना सिर पटकने का दुस्साहस क्यों करता है? कहां तू ग्यारह-बारह वर्ष का छोकरा और कहां हमारा वृद्ध राजपंडित, जिसने बड़े-बड़े दाढ़ीवालों का मान मिटा दिया है। मैं तुम्हारे जैसे छोटे आदमी को राजभवन में नहीं जाने दूंगा।

अष्टावक्र गम्भीरता से बोला—द्वारपाल, आयु के द्वारा बड़ाई-छोटाई का निर्णय तो मूर्ख-मण्डली में होता है। विद्वानों के समाज में ज्ञान की अधिकता देखकर श्रेष्ठता का निर्णय होता है। मैंने वेदाध्ययन में परिश्रम किया है। आयु में छोटा होकर भी मैं ज्ञान में वृद्ध हूं। आग की चिनगारी को छोटा न मानो; वह फूस के पहाड़ को भी जलाने की शक्ति रखती है। फलों से लदा हुआ छोटा वृक्ष भी फलहीन बड़े वृक्ष से अधिक मान्य है।

बालक अष्टावक्र के तर्क से प्रभावित होकर

द्वारपाल ने उसे राजा के दरबार में जाने की अनुमति दे दी। अष्टावक्र उस दरबार में निर्भय होकर पहुंचा, जहां जनक को घेरकर पचासों धुरंधर पंडित बैठे हुए शास्त्र-चर्चा कर रहे थे। वे सबके सब इस बेडौल बालक को देखते ही हंस पड़े।

अपने रूप का यह उपहास देखकर अष्टावक्र ने जनक से कहा—राजन्, मैंने तो यह समझा था कि आपकी लोक-प्रसिद्ध सभा में कुछ पंडित भी होंगे, लेकिन यहां देखता हूं तो सब चमार ही चमार जमा हैं।

जनक ने बिगड़कर कहा—बिना जाने-सुने ऐसी बात क्यों कहते हो ? यहां तो सभी एक से एक बढ़कर ब्रह्मज्ञानी हैं।

अष्टावक्र—राजन्, ब्रह्मज्ञानी तो उसे कहते हैं जो सदैव शुद्ध एवं निर्विकार रहनेवाली आत्मा की परीक्षा कर सके। जो चमड़े से ढके हुए हड्डी-मांस की ही परीक्षा करना जानता है, वह ब्रह्मज्ञानी कैसे होगा ? ये लोग तो चमारों की तरह हड्डी-मांस और चमड़े को ही देख रहे हैं। यदि ये सच्चे पंडित होते तो आत्मतत्त्व को पहले देखते।

अष्टावक्र का बुद्धिमत्तापूर्ण तर्क सुनकर जनक की पंडित-मंडली लज्जित हो गई। उसके बाद राजा ने

उसे ज्ञानी मानकर आसन दिया और उसके वहां आने का कारण पूछा। अष्टावक्र ने अपना अभिप्राय कह सुनाया। जनक ने उसे वन्दी की योग्यता और प्रतिज्ञा बताकर उससे शास्त्रार्थ करने से मना किया, लेकिन वह अपने हठ पर अड़ा रहा।

अन्त में वन्दी बुलवाया गया। वह हाथी की तरह झूमता हुआ दरबार में पहुंचा और मच्छर जैसे प्रतिद्वन्द्वी को तिरस्कार से देखकर अपने आसन पर बैठ गया। शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। अष्टावक्र बड़े स्वाभिमान के साथ नामी शास्त्री से भिड़ गया। दोनों में घोर वाद-विवाद होने लगा। दरबारी पंडितों ने ऐसा घमासान ज्ञान-युद्ध न कभी देखा था और न सुना ही था। वन्दी के प्रत्येक तर्क को अष्टावक्र उसी तरह काटने लगा, जैसे कोई किसान पकी फसल काटता है। राजपंडित की जीभ लड़खड़ाने लगी। अन्त में अष्टावक्र ने कठोर तर्कों से उसका मुंह बन्द कर दिया। वन्दी परास्त हो गया। पंडित लोग विजयी अष्टावक्र की जय-जय गाने लगे। वन्दी अपने आसन पर से लुढ़क गया।

अपने पितृद्रोही को पछाड़कर अष्टावक्र ने गर्व से कहा—राजन्, अब इस सभा के नियम के अनुसार इसे

समुद्र में फिकवा दीजिए।

वन्दी घबरा गया। उसने प्राणरक्षा के लिए बहुत हाथ-पैर जोड़े लेकिन अष्टावक्र उस समय न्यायपालन के लिए अड़ा रहा। जनक के सिपाही वन्दी को घसीटते हुए डुबोने ले चले।

तब राजपंडित वन्दी पीड़ित होकर बोला—आर्य अष्टावक्र, आप मुझे थोड़ा अवकाश दें। मैं आपके पिता के साथ उन अन्य पंडितों को भी बुलवा देता हूं जिन्हें मैंने पराजित करके डुबोने के लिए भेजा था। वास्तव में वे सब जीवित हैं और वरुण का यज्ञ करवा रहे हैं।

यह कहकर उसने सब पंडितों को वहां बुलवा दिया। उनमें कहोड़ भी थे। सबने अष्टावक्र का आलिंगन करके कहा—सत्पुत्र हो तो ऐसा हो, जो अपने प्रभाव से सारे कुल का उद्धार कर दे। आज अष्टावक्र का जन्म लेना और विद्या पढ़ना सार्थक हो गया।

कहोड़ के आनन्द और अभिमान का तो कहना ही क्या था। उन्होंने अपने ही कर्मों की सराहना करते हुए कहा—अच्छे-अच्छे कर्म करके मनुष्य इसीलिए पुत्र की इच्छा करता है कि जो मैं नहीं कर सका, उसको मेरा पुत्र कर देगा। अष्टावक्र ने उसको चरितार्थ कर दिया।
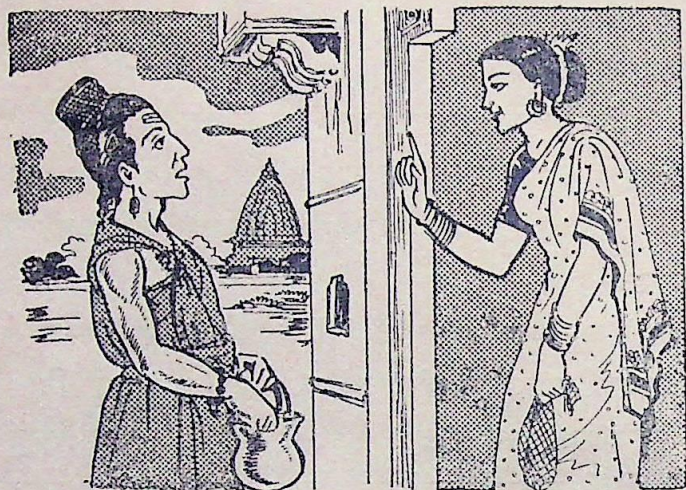
२

सच्चा धर्म

प्राचीन काल में कौशिक नाम का एक विद्वान् ब्राह्मण था। वह अपने को धर्मशास्त्रों का पूरा पंडित और तपस्वी समझता था। दूसरों की चिन्ता छोड़कर वह अपने चित्त की शान्ति के लिए अपना सारा समय पूजा-पाठ में ही बिताता था। संक्षेप में यही समझिए कि इस जीवन के सुखों की चिन्ता छोड़कर वह अगले जीवन की तैयारी में लगा रहता था।

एक दिन कौशिक एकांत में एक पेड़ के नीचे बैठा हुआ वेद-पाठ कर रहा था; इतने में ऊपर बैठी

हुई एक बगुली ने उसके सिर पर बीट कर दी। ब्राह्मण का ध्यान भंग हो गया। उसने क्रोध से आंख उठाकर बगुली को देखा और मन ही मन उसके नाश की कामना करके फिर वेद पढ़ना आरम्भ कर दिया। पढ़ते-पढ़ते वह बीच-बीच में ऊपर बैठी हुई बगुली को देखने लगा। बहुत प्रयत्न करने पर भी वह उसके अपकार को भूल नहीं सका।

थोड़ी देर में बगुली अनायास पेड़ पर से गिरकर वहीं मर गई। यह लीला देखकर कौशिक अभिमान से फूल गया। उसको विश्वास हो गया कि बगुली ब्रह्मतेज से आहत होकर मरी है। अपने तपोबल का प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर ब्राह्मण अपने को त्रिलोचन भगवान् की तरह शक्तिशाली मानने लगा। थोड़ी देर बाद उसका अहंकार ठंडा पड़ गया। बगुली को देखकर उसके मन में करुणा आई और साथ ही हिंसा के पाप का ध्यान भी आया। उसने निश्चय किया कि गांव-गांव में घूमकर इस जीव-वध का प्रायश्चित्त करना चाहिए, नहीं तो अगले जन्म में नरक भोगना पड़ेगा। ऐसा सोचकर वह तुरन्त दूर के गांव की ओर भिक्षा मांगने निकल पड़ा।

उस गांव के द्वार पर आकर कौशिक भिक्षा

के लिए चिल्लाया । भीतर से एक स्त्री बोली—महाराज, ठहरिए, मैं बरतन धो रही हूं, जल्दी ही आती हूं । ब्राह्मण बाहर खड़ा उसकी प्रतीक्षा करने लगा । इसी समय घर का स्वामी कहीं दूर से थका-मांदा आया और घर में जाकर स्त्री से भोजन के लिए आग्रह करने लगा । स्त्री अपने पति के सेवा-सत्कार में लग गई । उसे बाहर खड़े ब्राह्मण का ध्यान ही न रहा । जब पति खा-पीकर आराम करने चला गया, तब स्त्री को भिक्षा देने की याद आई । वह तुरन्त हाथ में कुछ सामान लेकर बाहर निकली और सम्मानपूर्वक उस ब्राह्मण को देने लगी ।

अभिमानी धर्मशास्त्री इतनी देर तक बाहर खड़े-खड़े क्रोध से तप गया था । बार-बार उसके मन में आता था कि शाप से भस्म कर दूं । भिक्षा लेने के पहले स्त्री की ओर घूरता हुआ वह घुड़ककर बोला—तुमने सत्पात्र को भिक्षा देने में इतना विलम्ब क्यों किया ?

स्त्री ने उत्तर दिया—देव, मैंने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया है । मैं पति की सेवा में लगी थी, इसलिए अन्य बातों को भूल गई । अभी ध्यान आते ही मैं भिक्षा डालने आई हूं । देरी के लिए आप मुझे

क्षमा करें।

कौशिक फिर अकड़कर बोला—अरी मूर्ख, तू द्वार पर खड़े पूज्य ब्राह्मण से भी अपने पति को बड़ा मानती है। उसकी सेवा में मग्न होकर तू हमें भूल गई, जिसके सामने इन्द्र सिर झुकाता है। क्या तू नहीं जानती कि हम ब्राह्मणों के मुख में अग्नि रहती है, जिससे हम त्रिलोक को भस्म कर सकते हैं। तूने हमारे जैसे तपस्वी का अनादर करने का दुस्साहस कैसे किया ! बोल कैसे किया ? मालूम होता है, तुझे हमारी शक्ति का पता नहीं है। बोल, तूने दुस्साहस कैसे किया ? शीघ्र न बोलेगी तो तू अभी मेरी कोप-दृष्टि से भस्म हो जाएगी।

उस स्त्री पर कौशिक के गर्जन-तर्जन का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उसने हंसकर कहा—महाराज, मैं बगुली नहीं हूं, आपकी कोप-दृष्टि मेरा कुछ भी अहित नहीं कर सकती। मैं तपस्वी ब्राह्मणों के प्रभाव को जानती हूं, लेकिन आपको वैसा नहीं मानती। तपस्वी वह है जो क्रोध को जीत ले, जो अपकार करनेवाले का भी अपकार न करे और जो समदर्शी हो। आपने धर्मशास्त्रों को रट अवश्य लिया है, लेकिन ऐसा लगता है कि अभी धर्मतत्त्व को नहीं समझा। समझा होता तो

अपने पांडित्य का डंका न पीटकर शान्तिपूर्वक आप अपना कर्त्तव्य करते।

स्त्री की बातों से कौशिक अत्यन्त चकित होकर सोचने लगा कि इस घर के भीतर बैठी हुई स्त्री को बगुली के मरने का रहस्य कैसे मालूम हुआ ! वह शान्त होकर बोला—श्रीमती, मैं तुम्हें क्षमा करता हूं; लेकिन यह बात बताओ कि तुम्हें बगुली के मरने का हाल कैसे मालूम हुआ ?

स्त्री बोली—विप्रदेव, मैं घर के भीतर ही सब कुछ देख रही थी। मैं अपने धर्म का ठीक-ठीक पालन करती हूं। इसलिए मेरी आत्मा इतनी शुद्ध हो गई है कि उसके प्रकाश में मुझे सब कुछ दिखाई पड़ता है। उसी आत्मशक्ति से मैंने तुम्हारा वृत्तान्त देखा है।

कौशिक उसके सामने विनीत होकर पुनः बोला—शुभे, वह कौन-सा धर्म है, जिसका पालन करके तुमने ऐसी महाशक्ति पा ली है ? मुझे भी बताओ। मैंने तो शास्त्रों को उसी तरह छान डाला है, जैसे तालाब को बगुला छानता है। लेकिन मुझे उसमें ऐसी कोई चमत्कारी विद्या नहीं मिली। तुम किस देवता की पूजा करती हो ? कौन-सा व्रत रखती हो ?

स्त्री—शास्त्रीजी, मैं पढ़ी-लिखी नहीं हूं, इसलिए

आपको धर्म के विषय में उपदेश नहीं दे सकती। मैं तो एक ही धर्म जानती हूं। उसका नाम है सेवा करना। मैं अपने चित्त को एकाग्र करके अपने पति की सेवा करती हूं। उन्हीं को मैं अपना देवता समझती हूं और उन्हीं की सेवा करने का व्रत पालती हूं। उसी के प्रताप से मुझे यह दिव्य-दृष्टि मिली है।

कौशिक—लेकिन तुम्हारे इस कर्म से लोक-कल्याण नहीं होता, इसलिए मैं यह नहीं मान सकता कि यह धर्म है। तुम मुझे धर्म का मर्म ठीक तरह से समझाओ; जिससे मैं भी तुम्हारी तरह सिद्धि प्राप्त कर सकूं।

स्त्री ने उसकी झोली में भीख डालकर कहा—भगवन्, अधिक जानना हो तो आप मिथिला नगरी में जाकर धर्मव्याध नामक व्यक्ति से मिलें। वह आपको धर्म का सच्चा मार्ग दिखा देगा।

भिक्षा लेकर कौशिक धर्मव्याध से मिलने के लिए मिथिला नगरी की ओर चल पड़ा। अनेक कष्टों को झेलता हुआ वह विदेह राज्य पहुंचा और लोगों से धर्मव्याध के घर का पता पूछने लगा। वहां के ब्राह्मणों ने उसे आत्मज्ञानी धर्मव्याध का पता बता दिया। उसके अनुसार कौशिक एक दुकान पर पहुंचा जहां एक तेजस्वी व्यक्ति बैठा हुआ मांस बेच रहा

था। उसी को लोग धर्मव्याध कहते थे। कौशिक लज्जित होकर एक कोने में खड़ा हो गया। व्याध अपने व्यापार में बहुत मग्न था। ब्राह्मण बार-बार सोचता था कि इस पाप के स्थान से भाग चले, लेकिन फिर यह सोचकर रुक जाता था कि जिस काम के लिए इतना कष्ट उठाया है, उसको अब पूरा ही कर डालना चाहिए। उसके मन में उस मांस बेचने वाले के प्रति अश्रद्धा और अविश्वास के भाव उठने लगे। उसने मान लिया कि उस स्त्री ने उसको ऐसे धर्महीन आदमी के पास भेजकर मूर्ख बनाया है।

कौशिक इस तरह के विचारों में फंसा हुआ खड़ा था। इतने में धर्मव्याध उसके पास आकर प्रणाम करके बोला—पंडितजी, मैं आपका स्वागत करता हूं। जिस प्रयोजन से आपको अमुक स्त्री ने भेजा है, वह बहुत गूढ़ है, चलिए, हम लोग घर पर इस पवित्र विषय की चर्चा करें। धर्म-चर्चा के लिए यह स्थान ठीक नहीं है।

धर्मव्याध की बातों से कौशिक पुनः चौंका। जिसे वह नीच समझता था, वह ऐसा महात्मा था कि बिना बिताए ही दूसरे के मन की बात जान लेता था। वह चुपचाप धर्मव्याध के पीछे-पीछे उसके घर

पर पहुंचा। वहां व्याध ने उसका अतिथि-सत्कार किया। इसके बाद कौशिक बोला—शूद्रराज, तुम्हारा घोर कर्म देखकर मैं तो तुमसे घृणा करने लगा था, लेकिन बाद में जब तुमने बिना बताए ही मेरे मन की बात कह दी, तो मुझे विश्वास हो गया कि तुममें कोई अद्भुत शक्ति है। तुमने इतना नीच कर्म करते हुए भी किस धर्म के प्रताप से ऐसी सिद्धि प्राप्त की है, जो हम जैसे चतुर्वेदी को भी दुर्लभ है। हम वेदों के प्रकांड पंडित हैं; फिर भी सुखी-शान्त नहीं हैं। यदि इसका गुप्त रहस्य तुम बता सको तो बताओ।

धर्मव्याध गम्भीर होकर बोला—पंडितजी, मुझमें कोई अद्भुत शक्ति नहीं है। मैंने शास्त्रों का उतना अध्ययन भी नहीं किया है, जितना आपने किया है। लेकिन मैं अधर्मी नहीं हूं। मांस बेचनेवाला होकर भी मैं अपने धर्म में स्थित हूं। मेरा व्यवसाय मेरे कर्म में बाधक नहीं है।

कौशिक—व्याध तुम मुझे अपने धर्म का स्वरूप बताओ।

धर्मव्याध—मैं स्वयं जीवहत्या नहीं करता। दूसरों के मारे हुए पशुओं का मांस बेचकर मैं अपनी और अपने आश्रितों की जीविका चलाता हूं, और परिश्रम

की कमाई में से यथाशक्ति दान भी करता रहता हूं। मैं स्वयं मांस नहीं खाता, किसी का अहित नहीं करता, निंदा से दूर रहता हूं और अपने से अधिक सुखी, समृद्ध एवं बलवानों के प्रति ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखता। मैंने सदैव सत्य बोलने का व्रत ले रखा है। मैं धर्म का नाम लेकर उसकी आड़ में कभी पाप नहीं करता, क्योंकि मैं मानता हूं कि गुप्त पाप को भी देखनेवाला कोई है, जो उसका दण्ड देता है। मैं पापी के साथ पापी नहीं बनता। मेरा मत है कि दुष्ट के साथ दुष्ट न बनकर सज्जन को सदा सज्जन ही बने रहना चाहिए। मूर्ख का अनुकरण नहीं करना चाहिए। पर-निंदा और आत्मप्रशंसा छोड़े बिना कोई संसार में प्रकाशित नहीं हो सकता। प्रशंसा वह है, जिसे दूसरे करें। कोई मूर्ख अपने मुंह से स्वयं अपनी प्रशंसा करके दूसरों की दृष्टि में प्रतिष्ठा नहीं पा सकता। इसलिए अपने ज्ञानी होने का विज्ञापन आपको स्वयं न करना चाहिए।

कौशिक—व्याध, तुम तो सदाचार के अच्छे ज्ञाता जान पड़ते हो। मुझे यह बताओ कि पढ़े-लिखे व्यक्ति को कैसा आचरण करना चाहिए।

धर्मव्याध—जैसे सूर्य पहले अंधकार को नाश करके तब अपने प्रकाश को फैलाता है, वैसे ही मनुष्य को

उचित है कि पहले वह अपने दुर्गुणों को दूर करे तब अपने गुणों को प्रकाशित करे । कल्याणकारी कर्म को सोचकर उसमें अपने को नियुक्त करना ही सदाचार है । ज्ञानी की पहचान यह है कि वह स्वेच्छाचारी नहीं होता । वह स्वार्थ की अपेक्षा कर्तव्य को अधिक महत्त्व देता है, यथासंभव दूसरों की सेवा करता है । शील, धैर्य, सत्य, इंद्रिय-दमन, सन्तोष, प्रियवादिता ये सब सदाचार के अंग हैं । बुरी स्थिति में होकर भी मनुष्य को सदैव शुभ आचरण करने का ही प्रयत्न करना चाहिए । धर्म-पूर्वक धन कमाकर उसका सदुपयोग करना चाहिए । जो अविद्या और आलस्य से दूर रहता है, अहंकार से मुक्त होता है, दूसरों का पालन करता है, इस अनित्य जीवन में वैर नहीं बटोरता, वही सदाचारी है । सबका सार यही है कि जो आत्मज्ञानी है, वही सदाचारी है, वही धर्मात्मा है । आत्मज्ञान प्राप्त करना ही सच्चा धर्म है ।

कौशिक—तुम्हारी बातों से मुझे मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं मिला ।

धर्मव्याध—मैं तुम्हारे मन की शंका को समझ रहा हूँ । मैंने तुम्हें धर्म के द्वार की असली कुंजी दी है । उससे तुम अज्ञान का ताला खोलकर भीतर जाओ

तो तुम्हें सच्चा धर्म दिखाई पड़ेगा। आत्मज्ञान होने पर ही मनुष्य को सूझता है कि उसका मुख्य कर्तव्य क्या है। उस कर्तव्य को पूर्ण करना ही धर्म है।

कौशिक—व्याख्यान न देकर यह बताओ कि तुम्हें कैसे वह सिद्धि मिली, जिसके द्वारा तुमने मेरे हृदय के भाव को जान लिया।

धर्मव्याध—पंडितराज, आपका चित्त बहुत चंचल है। थोड़ा धैर्य रखिए, मैं अभी आपको घर के भीतर ले चलकर अपनी सफलता का सारा रहस्य समझा देता हूं। उससे आपको मेरे व्यक्तिगत धर्म का भेद ज्ञात हो जाएगा।

धर्मव्याध उसे अपने घर के भीतर ले गया। वहां उसका वैभव देखकर दरिद्र ब्राह्मण दंग हो गया। घर खूब साफ-सुथरा और धन-अन्न से भरा था। धर्मव्याध के वृद्ध माता-पिता वहां ठाठ से बैठे थे। उनको प्रणाम करके वह कौशिक से बोला—प्रियवर, मेरे प्रत्यक्ष धर्म को देखिए, जिससे मैंने यह सब सिद्धि पाई है। मेरे यज्ञ और चारों वेद यही हैं। जो व्यवहार देवताओं के साथ किया जाता है, वही मैं इनके साथ करता हूं। मैं प्रतिदिन आलस्य-प्रमाद त्यागकर इनकी सेवा करता हूं। इनके अनुकूल आचरण करके इनके

शुद्ध, संतुष्ट हृदय से शुभ आशीर्वाद प्राप्त करता हूं। इसी से मेरे पुण्य की वृद्धि होती है; इसी से मेरी आत्मा पवित्र हो गई है और मुझे दिव्यदृष्टि मिल गई है। गृहस्थाश्रम में रहनेवाले का यही सनातन धर्म है जो सर्वसिद्धिदायक है। उस महिला ने इन माता-पिता की सेवा को लक्ष्य करके ही आपसे मेरे पास आने को कहा था। वह जान गई थी कि आप विद्या-व्यसनी होकर अपने कर्तव्य को भूल गए हैं, इसीलिए उसने आपको मेरे पास धर्मतत्त्व जानने के लिए भेजा है। आप अपने माता-पिता की उपेक्षा करके उनसे विदा लिए बिना ही घर से धर्म-ज्ञान की खोज में निकल आए हैं। यद्यपि आपने सद्भाव से ऐसा किया है, लेकिन आपके अनुचित आचरण से शोकवश आपके वृद्ध माता-पिता इस समय अंधे हो चुके हैं। धर्मशास्त्री होकर भी आपने उनके प्रति अधर्म किया है। जब तक आप अपनी सेवा से उनको संतुष्ट नहीं कर लेते, तब तक यज्ञ, पूजा, वेद-पाठ से न तो आपको सिद्धि मिल सकती है और न शान्ति।

धर्मव्याध की चेतावनी सुनकर कौशिक फिर बोला—मित्र, तुम तो स्वार्थ-सिद्धि का मार्ग बता रहे हो। धर्म का उद्देश्य तो लोक-कल्याण करना है।

मुझे ऐसा मार्ग बताओ, जिसमें मैं लोक-कल्याण करके धर्म-फल पा सकूं; नहीं तो मेरा पढ़ना-लिखना व्यर्थ हो जाएगा।

धर्मव्याध--मैं आपको लोक-कल्याण का ही मार्ग बता रहा हूं। आप अपने आत्मज्ञान को जगाइए, तब ज्ञात होगा कि जो निकट है, उसकी सेवा पहले करके तब आगे बढ़ना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य अपने को सुधारकर अपने कुल को सुधार ले तो सारा लोक अपने-आप सुधर जाएगा। मूल की रक्षा किए बिना आप पेड़ की टहनियों को सींचने का परिश्रम व्यर्थ करते हैं। धर्म का पालन पहले अपने घर में करके तब बाहर करना चाहिए। घर के बाहर दीपक जलाकर भीतर अंधेरे में बैठना मूर्खता है। लोकसेवा का अभ्यास करना है तो पहले अपने घर में करें। अब आप अपने घर को जाइए और अपनी सेवा से अपने आश्रितों को संतुष्ट कीजिए। पत्थर का खंभा भी यथाशक्ति ऊपर के बोझ को उठाने का यत्न करता है। आप मनुष्य हैं, घर का भार उठाइए; जब तक गृह में हैं, वैरागियों का आचरण न कीजिए। बुद्धि को शुद्ध करके कर्तव्य कर्म कीजिए। यही सच्चा धर्म है। मैंने कल्याणकारी मार्ग दिखा दिया है, उसपर चलिए।

कौशिक की आंखें खुल गईं। धर्मव्याध के आदर्श से प्रभावित होकर उसने उसके बताए हुए मार्ग पर चलने का निश्चय किया। तब धर्मव्याध उसे प्रणाम करके बोला—आर्य, आप मेरे देवता हैं, क्योंकि धर्माचरण के लिए तैयार हो गए हैं। अब आपकी बुद्धि शुद्ध हो गई है, इसलिए आप धर्मतत्त्व समझ गए हैं। हे देव, अब आप अपना सनातन-धर्म पालन करने जाते हैं। ईश्वर मंगल-मार्ग के यात्री को सफलता दे।

कौशिक वहां से विदा होकर घर आया और अपने मूलधर्म का पालन करने लगा। यह नई तपस्या उसे अधिक सिद्धि एवं शान्तिदायक प्रतीत हुई।

३

दुस्साहस का दंड

हिमालय पर्वत पर एक बड़ा पुराना सेमल का वृक्ष था। वह फल-फूलों से लदा रहता था और इतना घना था कि उसकी छाया में सैकड़ों हाथी विश्राम करते थे। तोता-मैना के सहस्रों परिवार उसकी शाखाओं पर सुखपूर्वक रहते थे। उस महावृक्ष के कारण वह स्थान बड़ा ही रमणीक हो गया था। बहुत-से ऋषि-मुनि भी उसके नीचे बैठकर शान्तिपूर्वक भगवद्-भजन करते थे।

एक दिन देवर्षि नारद कहीं से घूमते-घामते उस पेड़ के नीचे आए और उसका वैभव देखकर बोले—हे

वृक्षराज ! तुम सब प्रकार से सम्पन्न हो, तुम्हारी एक भी डाली कहीं टूटी हुई नहीं दिखाई देती। जान पड़ता है, पवन तुम्हारा मित्र है, इसलिए वह तुम्हारा ग्रहित नहीं करता; पवन से रक्षित होकर ही तुम निश्चिन्त होकर पर्वत की भांति खड़े हो ग्रौर इतने जीवों के ग्राश्रयदाता बने हो। पृथ्वी पर कोई दूसरा ऐसा वृक्ष नहीं है जो वायु की चोट से बचा रहे। तुम उसके ग्राने पर उसके सामने भक्तिपूर्वक झुक जाते होगे, इसलिए वह तुम्हें ग्रपना उपासक जानकर तुम्हारी रक्षा करता होगा। मैं चाहता हूं कि यह मित्रता चिरस्थायी रहे।

नारद की बातों से सेमल ग्रभिमान से तनकर बोला—देवर्षि, ग्राप मेरे बल को नहीं जानते। मेरे जैसा महाबली हवा को हवा ही मानता है। पवन के सामने मैं कभी नहीं झुकता। वह मेरे सामने ग्राता है तो मैं ग्रकड़कर खड़ा हो जाता हूं। उसकी गति यहां रुक जाती है। वह मुझसे पराजित होकर लौट जाता है। पवन में तो इतना भी बल नहीं कि वह मेरे एक पत्ते को भी गिरा सके। मैं उस पवन के बाप से नहीं डरता।

वृक्ष की दंभ-भरी बातें सुनकर नारद फिर बोले—शाल्मली, तुम्हारा शरीर तो इतना बड़ा है, लेकिन तुम्हारी बुद्धि बड़ी तुच्छ जान पड़ती है। तुम्हारी खोपड़ी

उलटी मालूम होती है। वायु के समान तो संसार में कोई दूसरा बली हुआ ही नहीं । वही सबका प्राणदाता और चैतन्य करनेवाला है। वायु जब शान्त अर्थात् अनुकूल रहती है तभी प्राणी जीवित रहते हैं। उसके अशांत होने पर जीव-जन्तु, वृक्ष-लता सब नष्ट हो जाते हैं। तुम छोटे मुंह बड़ी बात करते हो। मैं जाकर पवन से तुम्हारी बातें कहूंगा, फिर देखना! जिसे चन्दन, देवदार, पीपल आदि तरुवर प्रणाम करते हैं, उसका अनादर करके तुम घोर दुस्साहस कर रहे हो।

कल ही नारद को झगड़ा लगाने का अच्छा मशाला बैठे-बिठाए मिल गया। वे दौड़े हुए पवन के पास पहुंचे और बोले---सर्वशक्तिमान् मारुतजी महाराज, क्या कहूं! कैसे कहूं! हिमालय पर खड़े दुष्ट सेमल ने आपके लिए जो-जो कहा है, उसे मैं अपनी जीभ पर नहीं लाना चाहता, लेकिन कहे बिना रहा नहीं जाता। वह तो कहता है कि आप उसके पास जाने से भी डरते हैं। वह आपको कायर समझता है, और खड़ा-खड़ा रण के लिए ललकारता है। देव, उसके दंभ को मिठाइए।

नारद की बातों से भड़ककर पवन सेमल के पास पहुंचा और बोला—क्यों रे शाल्मली, तूने नारद के सामने मेरी निन्दा की है? मैं तेरे ऊपर अभी तक इस विचार

से दया करता था कि बहुत-से जीव-जन्तु तेरे ऊपर-नीचे आश्रय लेते हैं। लेकिन अब तुझे मैं अपना बल-प्रभाव दिखाऊंगा, जिससे तेरा अहंकार नष्ट हो जाए।

वृक्ष बोला—पवन, क्यों बड़बड़ाते हो! तुम क्रुद्ध होकर मेरा क्या कर लोगे? मेरे जैसे पहलवान को चुनौती मत दो। मैं तुम्हें धक्के देकर गिरा दूंगा। मेरी डालों को देखो—ये मेरी भुजाएं हैं।

पवन दूसरे दिन के लिए युद्ध-निमन्त्रण देकर वहां से चला गया। रात में वह वृक्ष पवन के पराक्रम का विचार करके सोचने लगा कि मैं उसके सामने नितान्त असमर्थ हूं; वह तो देखते-देखते मुझे जड़ से उखाड़ फेंकेगा। इसलिए बुद्धिमानी से उसके हमले से बचने का उपाय करना चाहिए।

ऐसा निश्चय करके उसने रात ही में अपने-आप अपनी डालियों और पत्तों को गिरा दिया और ठूंठ बनकर वह पवन के आने की प्रतीक्षा करने लगा। सवेरा होते ही पवन महावेग से रास्ते के पेड़ों को उखाड़ता हुआ क्रोध से उन्मत्त, सेमल के वृक्ष के समीप आ पहुंचा। वहां उसने उसे जीर्ण-शीर्ण दशा में चुपचाप खड़े देखकर कहा—मूर्ख, तूने अपने-आप अपनी यह दुर्दशा कर ली है, जो आज मेरे हाथों होती। मेरे पराक्रम के

ध्यान से तूने अपनी सम्पत्ति पहले नष्ट कर डाली है। यदि तू अपने से अधिक बलवान् के साथ वैर मोल लेने का दुस्साहस न करता तो तेरी ऐसी दशा न होती।

वृक्ष लज्जित होकर पश्चात्ताप करने लगा। पवन उसे जीवन-दान देकर बोला—मूढ़, तू मेरा प्रभाव जान गया। मेरे स्मरण से भयभीत होकर तूने स्वयं अपना नाश कर लिया। आगे से बालक, मूर्ख, अन्धे, बहरे और अपने से प्रबल जीव अपकार भी करें तो उन्हें क्षमा करना सीखो। अकारण उनसे भिड़ने में अपना गौरव नष्ट होता है। समान बलवाले शत्रु के समीप भी बुद्धि-मान् लोग धीरे-धीरे पराक्रम प्रकट करते हैं। तुम तो मूर्खतावश अपने से बड़े से भी लड़ने को तैयार हो गए और परिणाम यह हुआ कि घबराकर लड़ाई के पहले ही अपने हथियार से अपने ही को घायल करने लगे। दुस्साहस करनेवाला अपने हाथों, अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारता है।

यह कहकर पवन वहां से चला गया। सेमल का पेड़ वैरागी की तरह खड़ा हुआ बहुत दिनों तक धूप में तप करता रहा। जीव-जन्तुओं ने भी उसे व्यर्थ समझ-कर त्याग दिया। उसका रहा-सहा वैभव भी जाता रहा।

४

समय की सूझ

समुद्र-मंथन के समय की एक घटना है। मन्दराचल को मथानी और सर्पराज वासुकी को रस्सी बनाकर झुंड के झुंड देवता-दानव सागर को मथने के लिए खड़े हो गए। पहाड़ को समुद्र में डालकर उसके चारों ओर सांप की रस्सी लपेटी गई। अब इतना ही काम रह गया कि एक दल उसके मुंह की ओर का और दूसरा पूंछ की ओर का हिस्सा पकड़कर मथना आरम्भ कर दे।

देवता लोग बड़े चतुर थे। वे सांप के मुंह की ओर का हिस्सा पकड़ने में डरते थे। उन्हें भय था कि खींचा-

तानी से क्रुद्ध होकर महासर्प दस-बीस-पचास को काट खाएगा। इसलिए वे पूंछ की तरफ रहना चाहते थे। लेकिन वे यह भी जानते थे कि दानव लोग द्वेषी, दुराग्रही और प्रतिकूलतावादी, अर्थात् जो भी कहिए उसका उल्टा कहने वाले हैं। अतएव उन्होंने नीति से काम लिया।

सब देवताओं ने आपस में सलाह करके एकाएक दौड़कर वासुकी के मुख की ओर का हिस्सा पकड़ लिया और अभिमानपूर्वक कहा—दानवो, अब तुम लोग उधर के हिस्से को पकड़ो। हम ऊंची जाति के हैं, इसलिए पवित्रता का विशेष ध्यान रखते हैं—पूंछ पकड़ने से हम अशुद्ध हो जाएंगे।

दानवों ने पैर पटककर कहा—ऐसा कभी नहीं हो सकता! हम लोग छोटे नहीं हैं; तुम लोगों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। हम यहां मल-मूत्र उठाने नहीं आए हैं।

देवता बोले—दानवो, हम अपना धर्म नहीं त्याग सकते। पूंछ पकड़ने से हमारी महिमा घट जाएगी।

दानव लोग कूदकर दूर खड़े हो गए और बोले—तो क्या हम अधर्मी और अधम हैं! हमें भी अपने बड़प्पन का ध्यान है। हम सर्पराज के सिर की ओर रहेंगे।

इस प्रकार के वाद-विवाद के बाद देवता लोग मुंह बनाकर बोले—अच्छी बात है, किसी तरह सागर को मथना ही है। चलो यही मान लिया कि तुम लोग उत्तम हो, हम अधम हैं।

यह कहते हुए उन्होंने पूंछ की ओर का हिस्सा पकड़ लिया। दानव लोग अकड़ते हुए सांप के सिर को पकड़कर खड़े हो गए। मथाई होने लगी। देवताओं का अनुमान सत्य निकला। वासुकी रगड़ से क्रुद्ध होकर बार-बार विष उगलने लगा। पास के कितने ही दानवों को उसने काट खाया। हठी और मूर्ख दानव पछताकर आपस में बोले—भाई, यह तो भूल हुई। उधर वाले ही सुरक्षित हैं; लेकिन अब इस त्रुटि का प्रतिकार नहीं हो सकता।

दानवों ने अपने दुराग्रह का दण्ड पाया और देवताओं ने अपनी बुद्धिमानी, दूरदर्शिता का लाभ।
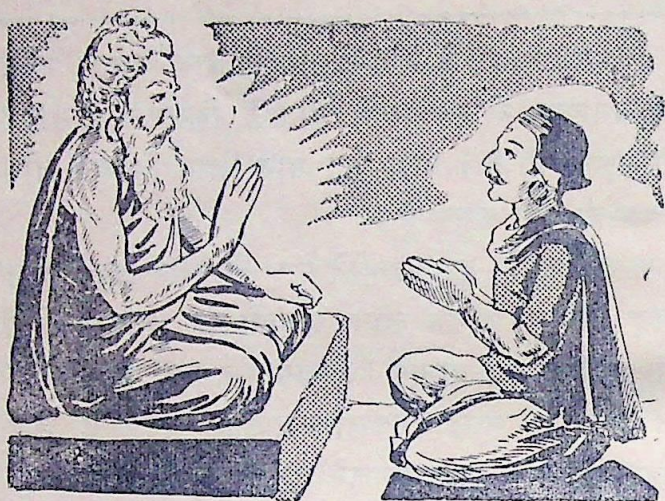
५

स्वर्ग का सुख

बहुत दिनों की बात है, कुरुक्षेत्र में मुद्गल नामक एक संयमी, सत्यवादी और परम सदाचारी ब्राह्मण रहता था। वह दरिद्र होकर भी स्वभाव से उदार था।

मुद्गल महीने-भर में केवल दो दिन भोजन करता था, सो भी अतिथियों को खिलाने-पिलाने के बाद। पन्द्रह दिन वह कबूतर की तरह चुग-चुगकर सोलह सेर चावल के कण इकट्ठा करता, इसके बाद यज्ञ करके प्रसन्न मन से देवता और अतिथियों को भोजन कराता। अन्त में जो कुछ बचता, उसको खाकर फिर अगले यज्ञ

की तैयारी में अन्न-संग्रह करने लगता। उसके पुण्य के प्रभाव से उसका यह धन कभी कम नहीं पड़ता था। चाहे जितने अतिथि आएं, सबको तृप्त करने भर का अन्न उसके यहां मिल ही जाता था। दान के अन्त में कभी उसे भूखा नहीं रहना पड़ा।

मुद्‌गल की दान-प्रशंसा सुनकर एक दिन महर्षि दुर्वासा पागल अतिथि का रूप बनाकर उसके द्वार पर आए। दानव्रती ब्राह्मण ने उनका स्वागत-सत्कार करके खाने के लिए उत्तम भोजन परोस दिया। भूखे दुर्वासा ने सामने का आहार खाकर और मांगा। ब्राह्मण ने घर में बचा हुआ शेष आहार भी बड़ी प्रसन्नता से उनके आगे रख दिया। दुर्वासा का पेट भर गया था, इसलिए उन्होंने शेष वस्तुओं को अपने सारे शरीर में मल लिया। इसके बाद वे वहां से चले गए।

मुद्‌गल के खाने को कुछ नहीं बचा। वह भूखा रह-कर हर्षपूर्वक अगले यज्ञ के लिए अन्न-संग्रह करने लगा दूसरे यज्ञ में दुर्वासा फिर आए और उसका सारा अन्न खाकर चले गए। मुद्‌गल को कुछ भी शोक नहीं हुआ। वह भूख पर विजय प्राप्त करके तीसरे यज्ञ की तैयारी करने लगा। उसमें भी दुर्वासा ने पहले जैसा ही काम किया। इस प्रकार छद्मरूपधारी महर्षि ने छः बार उसका

सारा अन्न समाप्त कर दिया और मुद्गल को भूखा ही रखा। इतने पर भी मुद्गल के मन में कोई विकार नहीं पैदा हुआ और न उसके कार्य में कोई शिथिलता ही आई। वह शुद्ध मन से व्रत-पालन में लगा रहा।

दीन ब्राह्मण की यह आत्म-विजय देखकर दुर्वासा अपने असली रूप में प्रकट होकर उसे आशीर्वाद देते हुए बोले—मुद्गल, तुम धन्य हो, क्योंकि तुमने रसों के पीछे दौड़ने वाली जीभ के साथ उस भूख को भी जीत लिया है, जो मनुष्य के धर्म, धैर्य और चेतनता का नाश करती है। मन को एकाग्र करके इन्द्रियों को वश में रखना ही तप है। तुमने यह तप उचित रीति से किया है। परिश्रम से उत्पन्न किए हुए धन को शुद्ध हृदय से देना बहुत कठिन है, परन्तु तुमने शुद्ध चित्त से सारा धन विधिपूर्वक दान किया है। मैं वरदान देता हूँ कि तुम शरीर-सहित स्वर्ग को जाओ। दुर्वासा के ऐसा कहते ही मुद्गल के लिए स्वर्ग से सचमुच एक सुसज्जित विमान आ गया। उसपर बैठे हुए देवदूत ने उस धर्मात्मा से विनयपूर्वक कहा—विप्रदेव, आपने अपने सत्कर्म से स्वर्ग-सिद्धि प्राप्त कर ली है, आप इस दुःखमय संसार से पुण्यधाम को चलें। वहां आप को अपरम्पार सुख मिलेगा।

देवदूत की बात सुनकर मुद्गल उससे बोला—

हे देवदूत, इस स्थान को छोड़ने के पूर्व मैं स्वर्ग के गुण-दोष जानना चाहता हूं। कृपया वहां के सुख-दुःख के विषय में कुछ बताइए। सज्जन लोग सात पद साथ चलकर ही एक-दूसरे के मित्र हो जाते हैं। इस मित्रता को ध्यान में रखकर मैं आप से स्वर्ग का रहस्य पूछता हूं।

देवदूत बोला—महात्मा मुद्गल, आप अवश्य ही स्थिरचित्त वाले हैं, इसलिए सुख को पाकर भी उसको भोगने की उतावली नहीं कर रहे हैं। साधारण व्यक्ति सुख के लोभमात्र से मोहित हो जाता है। आप मुझसे स्वर्ग का संक्षिप्त विवरण सुनिए—

'इस लोक के ऊपर स्वर्गलोक है। वह परम सुख-दायी है। वहां उत्तम कर्म करने वाले महात्मा लोग जाते हैं। उस पवित्र लोक में न तो कुछ भयानक है और न अशुभ। किसी को न शीत-गर्मी का कष्ट होता है और न भूख-प्यास का। सब दुःख-शोक से मुक्त होकर नन्दनवन में विहार करते हैं। दैवी प्रकाश से वह लोक सदा सर्वदा जगमगाता रहता है।' स्वर्ग के गुण बताकर अब मैं वहां के दोष भी बता देता हूं, क्योंकि आपने मित्र भाव से पूछा है—स्वर्ग में जाकर मनुष्य अपने पूर्व कर्मों का फल ही भोगता है, कोई नया कर्म करके आगे के लिए पुण्य का संचय नहीं कर सकता। भोगने

से वहां कर्म दिन-प्रतिदिन क्षीण हो जाता है। इस प्रकार भोग द्वारा पुण्य का नाश हो जाता है। कर्म के नष्ट होने पर जीव पुनः वहां से पृथ्वी पर गिरा दिया जाता है। वहां से गिरने पर मनुष्य को सुख की वासना घोर कष्ट देती है। सुखों से परिचित होकर वह यहां के दुःखों से बहुत व्यथित होता है। सुख प्राप्त करने के लिए उसे पुनः तपस्या करनी पड़ती है।'

देवदूत की बात सुनकर मुद्गल ने अपनी बुद्धि से विचार करके देवदूत से कहा—हे मित्र, हम तुम्हें प्रणाम करके विदा करते हैं। तुम विमान लेकर वापस जाओ। हम स्वर्ग और उसके सुखों पर विचार न करके उसके दोषों से ही प्रयोजन रखते हैं। हम ऐसे सुख में नहीं लिप्त होना चाहते, जिसका वियोग दुःख दे। हम अपनी उसी कर्मभूमि में रहना चाहते हैं, जहां से पतन नहीं होता। जिस लोक में कर्मों द्वारा नित्य मनुष्य की उन्नति होती है, वही हमें प्रिय है। हम अपने आश्रम को ही स्वर्ग समझते हैं।

देवदूत वापस चला गया। संयमी ब्राह्मण प्रसन्न मन से फिर पुण्य-कर्म में लग गया। उससे उसे जो आत्मसंतोष मिलता था, वह स्वर्गीय सुख था। जिस शान्ति के लिए लोग स्वर्ग की कामना करते हैं, वह उसे अपने शुद्ध हृदय में ही मिल गई थी।
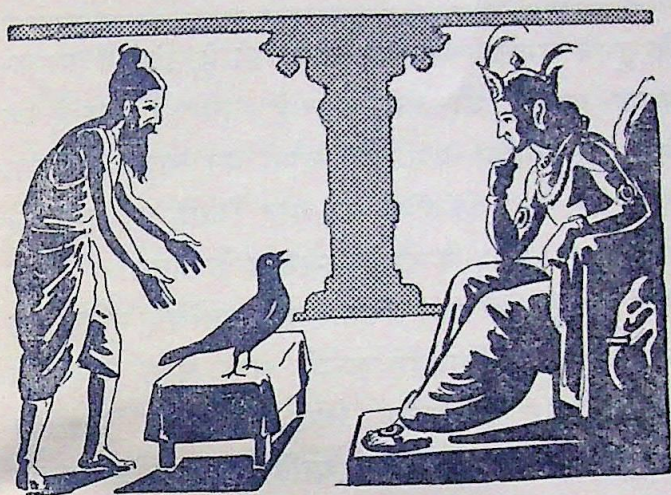
६

परछिद्रान्वेषी न बनो

एक मुनि ने एक त्रिकालदर्शी कौआ पाला था। वह भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों की बातें बताता था। मुनि को अपने अलौकिक काक पर बड़ा अभिमान था। उसके बल पर वे स्वयं सर्वज्ञ होकर दूसरों को काक-विद्या का चमत्कार दिखाते फिरते थे। एक दिन वे अपने विचित्र पक्षी को लिए हुए एक महाराजा के दरबार में पहुंचे। वहां उन्होंने कौए से राजकर्मचारियों की गुप्त बातों का पता लगाकर राजा के सामने मुख्य-मुख्य अधिकारियों से कहना शुरू किया

कि तुमने अमुक स्थान पर चोरी की है, जिसमें अमुक-अमुक व्यक्ति भी सम्मिलित हैं। तात्पर्य यह है कि किसी पर उन्होंने धन की चोरी का लांछन लगाया, किसी पर काम की चोरी का और किसी पर बात की चोरी का। कौए ने अपने स्वभाव के अनुसार सबके दोषों का ही निरीक्षण किया था, इसलिए मुनिजी ने सबके दोषों का दिग्दर्शन कराके भरी सभा में सबको लज्जित और अपमानित किया। महाराज ने उनका कौशल देखकर उन्हें धन आदि से सम्मानित करके ठहरा लिया। दूसरे दिन दरबार में फिर काक-कला का प्रदर्शन हुआ। कौए से पूछ-पूछकर मुनि सबकी पोल खोलने लगे। एक भी छोटा या बड़ा ऐसा राजसेवक नहीं मिला जो निर्दोष हो। मुनि ललकारकर सबसे कहते थे कि मेरी काक-विद्या मिथ्या नहीं है, तुम सबके सब चोर हो, झूठे हो, असावधान हो। राजा भी अपने कर्मचारियों की त्रुटियां जानकर उनसे रुष्ट हो गया।

रात में जब मुनि सो गए तो कुछ नौकरों ने मिलकर उस परछिद्रान्वेषी कौए को मार डाला। सवेरे मुनिजी उसको मरा पाकर अपना सिर पीटने लगे। उनकी तो मानो आंखें ही फूट गईं। वे मरे हुए पक्षी को लेकर महाराजा के पास पहुंचे और बोले—राजन् !

आपके कर्मचारी बड़े दुष्ट हैं, उन्होंने मेरे इस पाप-पारखी कौए को मार डाला। यह मर गया है, नहीं तो मैं इससे पूछकर हत्यारों का नाम भी बता देता।

महाराजा ने मुनि को सान्त्वना देते हुए उनसे अपना मन्त्री बनने का अनुरोध किया। मुनि बोले—राजन्, यह संसार ही बुरा है; मैं एकान्त वन में ही सुख से रहूंगा। यहां रहने पर कल मेरी भी वही दशा होगी, जो आज मेरे काक की हुई है।

यह कहकर मुनि वन में चले गए।

७

हितकारी वाणी का फल

एक प्राचीन पंडितजी बड़े मृदुभाषी और समय-चतुर थे। एक बार वे एक वन में से होकर कहीं जा रहे थे। रास्ते में उन्हें एक भूखे राक्षस ने पकड़ लिया। पंडितजी धैर्यवान् थे, इसलिए घोर विपत्ति में पड़कर भी उसमें फंसे नहीं। वे अत्यन्त भयंकर राक्षस से भी हंस-हंसकर मीठी बातें करने लगे। राक्षस उनकी प्रेम-भरी हितकारी बातों से प्रसन्न होकर बोला—पंडित, मैं तुम्हारे शुभ वाक्यों से मोहित अवश्य हुआ हूं, लेकिन इतने सस्ते मूल्य पर तुम्हारा जीवन नहीं छोड़ सकता।

यदि तुम यह बता सको कि मैं दुबला होकर शरीर से पीला क्यों हो गया हूं तो मैं तुम्हें मुक्ति दे दूंगा।

चतुर पंडितजी सोच-विचारकर उसके दुर्बल और पीले होने के कारण सुनाने लगे। वे बोले—राक्षसराज, जान पड़ता है, इस शून्य स्थान में रहकर तुम अकेले ही ऐश्वर्य भोगने की चेष्टा करते हो। मित्रों के अभाव में तुम दुबले और पीले होते जाते हो। यदि तुम्हारे मित्र हैं, तो संभवतः वे अपने स्वभाव की नीचता के कारण तुम्हारे गुणों का आदर न करके तुमसे विरक्त रहते हैं। उनकी इस नीचता को देखकर तुम मन ही मन चिन्ता से घुलते जाते हो; अथवा तुम्हारी इस बीमारी का कारण यह है कि तुम दूसरों के दोष ही देखते हो और अपने अतिरिक्त सबको दोषी तथा मूढ़ मानकर कुढ़ते रहते हो। जान पड़ता है, मूर्ख धनवान् लोग तुम्हारी उपेक्षा करते हैं; अथवा तुम्हारी जीविका का कोई स्थायी साधन नहीं है; अथवा तुम्हारे मित्र गुप्त रूप से शत्रुता का आचरण करते हैं; अथवा लोग तुम्हारे गुणों का उचित सम्मान नहीं करते; अथवा तुम धन, बुद्धि और शास्त्र-ज्ञान से रहित होकर केवल तेजस्विता के बल पर महान् पद पाने का निष्फल यत्न करते हो; अथवा जाति वाले तुम्हारा अपमान करते हैं; या

तुम्हारी स्त्री बड़ी कलहकारिणी है; या तुम्हारा पुत्र वश में नहीं है; या तुम एक साथ सबको संतुष्ट करने की चेष्टा करते हो; अथवा भीतर से इच्छा रहने पर भी तुम संकोचवश बहुत-सी बातों को मन में ही दबा लेते हो; अथवा तुम स्वयं मूर्ख तथा भीरु होकर अल्प-धन, विद्या, विश्राम तथा दान से यश पाने की कामना करते हो; अथवा तुमने किसी चिर-इच्छित फल को नहीं पाया; लोग तुम्हारी बुराई करते होंगे; अथवा तुमने निर्दोष प्राणियों को पीड़ा पहुंचाई होगी; या तुम पाप की कमाई खाते होगे; या तुम सदा निन्दा करते होगे; दो मित्रों के झगड़े में पड़कर उनका हित करने की चेष्टा करते होगे; दूसरों के दु:ख को अपने सिर पर ले लेते होगे; या काम को करके तब अपनी भूल पर विचार करते होगे; या किसी व्यसन में फंसे होगे; या तुम्हारे मनोरथ तुम्हारी शक्ति से प्रबल होंगे—इन कारणों से शरीर जर्जर होकर पीला पड़ जाता है।

पंडितजी की हितकारी बातों से राक्षस को आत्म-बोध हुआ। वह मन ही मन अपनी निर्बलता का कारण समझ गया। इन अनेक कारणों में से उसे अपने दु:ख के कुछ कारण मिल गए। उसने पंडितजी को सम्मान-पूर्वक मुक्त कर दिया।

८

मित्रता की जड़

ब्रह्मदत्त नामक एक राजा के पास पूजनी नाम की एक चिड़िया थी। राजा उसे बड़े प्रेम से अपने महल में रखता था। कुछ दिनों में उस पालतू पक्षी ने एक बच्चा पैदा किया। संयोग से उसी दिन महारानी ने भी एक राजकुमार को जन्म दिया। दोनों बड़े होने लगे।

चिड़िया रोज़ समुद्र के किनारे से बड़े-बड़े दो मधुर फल लाती और उनमें से एक अपने पुत्र को देती तथा दूसरा अपने स्वामी के पुत्र को। उस फल को कुछ दिन तक खाकर राजकुमार बहुत हृष्ट-पुष्ट हो गया।

एक दिन पूजनी की अनुपस्थिति में वह उसके बच्चे के पास पहुंचा। राजकुमार ने थोड़ी देर तक उसके साथ खेलकर चंचल स्वभाववश उसे पटककर मार डाला।

उसके जाने के बाद पूजनी बाहर से नित्य की भांति दो फल लेकर आई। वहां देखा तो उसका बच्चा मरा पड़ा था। महल की दासी से उसे उसकी मृत्यु का कारण मालूम हो गया। राजकुमार की क्रूरता का हाल सुनकर वह बोली—साथ में उत्पन्न होकर पले हुए, साथ-साथ खाने-पीनेवाले और शरणागत जीव का वध करके इस बालक ने महापाप किया है; इसे दण्ड देने में कोई पाप नहीं है।

ऐसा विचार करके क्षुब्ध पक्षी ने झपटकर अपने पंजों से कुमार की दोनों आंखें निकाल लीं। उन्हें लेकर वह महल की छत पर जा बैठी और ब्रह्मदत्त को पुकारकर बोली—स्वामी, अब मैं सदा के लिए आपके यहां से जाती हूं।

ब्रह्मदत्त ने कहा—पूजनी, मेरे पुत्र ने अपराध किया था, तुमने उसका बदला ही तो लिया है। दोनों कार्य समान ही हुए हैं। मैं तुमसे रुष्ट नहीं हूं। तुम सुख से यहीं रहो।

पूजनी बोली—महाराज, अब यहां रहने में मेरा

कल्याण नहीं है। जिस विश्वास के कारण दो हृदयों में एकता होती है, वह हमारे-ग्रापके बीच से निकल चुका है। ग्रब ग्रापस में वैर-भाव ग्रा गया है। वह ग्रागे भड़ककर हमारी हानि कर सकता है।

राजा बोला—पक्षी, वैर तो समाप्त हो गया। उसे भूलकर यहीं रहो।

पक्षी ने फिर कहा—राजन्, वैर की समाप्ति नहीं होती। वह काठ की ग्राग की तरह हृदय में छिपा रहता है। याद ग्राने पर नया हो जाता है। संभव है, ग्राप पूर्व प्रीतिवश उसका स्मरण न करें, लेकिन ग्रापके पुत्र-पौत्र उसकी याद करके उत्तेजित हो सकते हैं। उस समय वे मेरे ऊपर उसी निर्दयता से प्रहार करेंगे, जैसे मैंने ग्रापके पुत्र पर किया है।

ब्रह्मदत्त—पूजनी, मैं तुम्हें निर्दोष मानता हूँ। जो कुछ हुग्रा है, काल की इच्छा से हुग्रा है। सब कुछ काल की प्रेरणा से होता है। उसमें मनुष्य का कोई ग्रधिकार नहीं है।

पूजनी—राजा, यदि काल ही सबका कारण होता तो किसी के साथ किसी का वैर न होता। काल ही जन्म-मृत्यु का कारण होता तो वैद्य लोग रोगियों के लिए ग्रौषधियां न बनाते। ग्रपने कर्मों के लिए सब

स्वयं उत्तरदायी हैं। हम लोग एक-दूसरे का अपकार करके परस्पर दुर्भाव पैदा कर चुके हैं। हमारी मित्रता की जड़ कट चुकी है। इसलिए अब मैं यहां रहने में शंकित हूँ। विश्वासपात्रता खोकर मित्रता प्राप्त करना अनर्थकारी हो सकता है।

यह कहकर बुद्धिमती पूजनी वहां से सकुशल विदा लेकर चली गई।
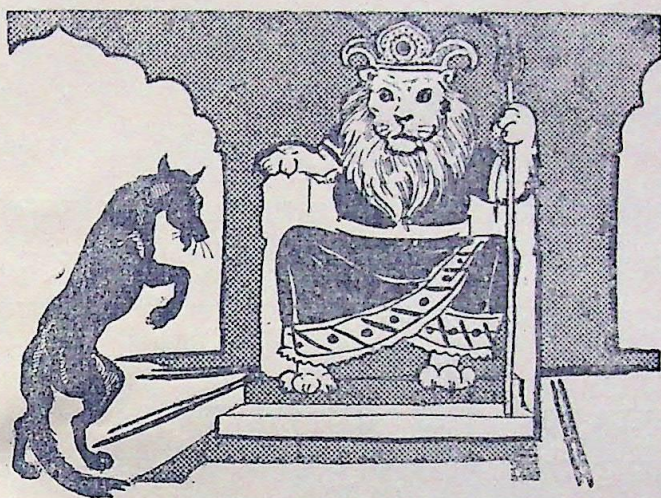
९

दुष्टों से दूर रहो

सियारों के कुल में एक बार गोमायु नामक एक धर्मात्मा और बुद्धिमान् सियार उत्पन्न हुआ। वह स्वयं पककर गिरे हुए फल खाता और अपनी जन्मभूमि श्मशान ही में सुख को रहता था। उसका पवित्र रहन-सहन उसके भाई-बन्धुओं को अप्रिय लगा। उन्होंने एक दिन उससे कहा---गोमायु तुम्हारा सदाचार हमारी जाति की प्रथा के विरुद्ध है। तुम अपने बाप-दादों के नाम पर कलंक लगा रहे हो। छल करना और दूसरों

का मांस चुराकर खाना हमारा सनातन धर्म है। तुम अपना कुल-धर्म न छोड़ो।

गोमायु बोला—मैं नीच कुल में उत्पन्न होकर भी अपने कर्मों से उत्तम गति पाना चाहता हूँ। मुझे सज्जनों का आचरण प्रिय है; मैं दूषित कुलधर्म को नहीं मानूंगा।

सियारों ने उसे जाति से बाहर कर दिया। गोमायु शान्तिपूर्वक श्मशान में रहकर सरल जीवन बिताने लगा। उसकी कीर्ति चारों ओर फैल गई। वन के सम्राट् सिंह ने भी उसकी बुद्धिमानी और सज्जनता का हाल सुना। एक दिन वह स्वयं आकर गोमायु से बोला—शृगालराज, मुझे तुम्हारे जैसे सच्चे और नीतिज्ञ मन्त्री की आवश्यकता है। मैं चाहता हूँ कि तुम चलकर राज-काज में मेरी सहायता करो। तुम्हारे जैसे कुशल और धर्मात्मा मन्त्री की सहायता से मैं वन में राम-राज्य स्थापित कर दूंगा।

गोमायु बोला—धर्मावतार, मैं सुख-भोग और ऐश्वर्य का लोभी नहीं। इसके अतिरिक्त मेरा चरित्र भी आपके पुराने सेवकों से नहीं मिलेगा और नीति के अनुसार किसी तेजस्वी के बहुत निकट रहना भी उचित नहीं है। ऐसी दशा में मैं मन्त्री-कार्य में सफल नहीं हो सकूंगा। मैंने सेवा-कर्म का अभ्यास भी नहीं

किया है। सेवक तो वही हो सकता है जो थोड़े में संतुष्ट होकर अपनी आत्मा को बेच दे। मुझसे यह सब नहीं हो सकेगा।

सिंह ने फिर कहा—गोमायु, मैं नीति के अनुसार सच्चे सहायक का आचार्य और पिता की तरह सम्मान करूंगा। तुम निश्चिन्त होकर चलो।

राज-आग्रह मानकर गोमायु बोला—महाराज, मैं इस शर्त पर चलूंगा कि आप अपने पिछले मन्त्रियों को मेरे कारण पद से अलग न करें। मैं किसी की जीविका नहीं छीनना चाहता। मैं उनके कार्य में हस्तक्षेप न करके एकान्त में आपको सलाह दूंगा। दूसरी शर्त यह कि आप मेरे आत्मीय जनों के ऊपर किसी प्रकार का अत्याचार न करेंगे और सम्मान का अन्त तक ध्यान रखेंगे।

वनराज ने उसकी शर्तें सहर्ष मान लीं। गोमायु प्रधानमन्त्री हो गया। उसकी उन्नति अन्य राजसेवकों को असह्य हो गई, क्योंकि उसके रहते वे मनमानी लूट-खसोट और निर्बलों पर अत्याचार नहीं कर सकते थे। दल बनाकर पहले तो प्रधानमन्त्री को लोभ में फंसाने की चेष्टा करने लगे, पर इस प्रयत्न में निष्फल होकर उन्होंने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र शुरू किया। एक दिन खल-मण्डली ने मिलकर सिंह के भोजन की सामग्री

उसकी गुफा में से लाकर सियार के घर में छिपा दी।

गोमायु को षड्यन्त्रों की सारी चाल का पता उसी समय चल गया, लेकिन किसी का अहित न हो, इस विचार से वह मौन रहा। इधर दोपहर में सिंह अपनी गुफा से अपना आहार गायब देखकर बहुत बिगड़ा। उसने चोरी के पता लगाने की आज्ञा दी। पुराने मन्त्रियों ने आगे बढ़कर कहा—सरकार, आपके विश्वासपात्र प्रधानमन्त्री जी यहां से मांस ले जाते हुए देखे गए हैं; हम लोग भयवश देखते हुए भी आंखें बन्द किए बैठे रहे। आपके सामने वे धर्मात्मा बने रहते हैं, लेकिन उनकी काली करतूतें तो हम लोग जानते हैं।

खल-मण्डली ने एक स्वर से चिल्लाकर कहा—दयानिधान, गोमायु बड़ा कपटी जीव है। ऊपर से वह फलाहारी बना है, लेकिन छिप-छिपकर छिपकली तक का मांस खा जाता है।

सिंह को उनकी बातों पर विश्वास नहीं हुआ, उसने घुड़ककर सबको खामोश कर दिया। पुराने मन्त्री लोग इस अवसर को हाथ से कैसे जाने देते! वे बोले—मांस-दाता, विश्वास न हो तो चलकर प्रधानमन्त्री के घर की तलाशी ले लीजिए। जो अपराधी हो, उसे दण्ड दीजिए।

सिंह उनकी बातों में आ गया। उसने गोमायु

के घर में जाकर तलाशी ली। वहां एक कोने में उसका भोजन मिल गया। मृगराज ने तत्काल प्रधान मन्त्री के वध की आज्ञा दी। क्रोध के आवेश में उसने उससे कुछ पूछा तक नहीं।

उसी समय सिंह की बुढ़िया माता वहां आकर अपने पुत्र से बोली---बेटा, तुम दूसरों के कहने में आकर ऐसा कर्म मत करो, जिसके लिए बाद में लज्जित होना पड़े। वनवासी मुनियों के भी मित्र-शत्रु होते हैं। जो प्रधानमन्त्री के पद पर है, उसके मित्र-शत्रु क्यों न होंगे? ईर्ष्यावश दुष्ट लोग साधुओं को नीचा दिखाने के लिए षड्यन्त्र करते ही हैं, इसलिए सोच-समझकर न्याय करो। गोमायु अभी तक निर्दोष रहा है। उसके कारण इस वन में सुराज्य स्थापित हो गया है। वह ऐसा छोटा काम नहीं करेगा।

सिंह बोला—मां, उसके घर में प्रत्यक्ष चोरी का माल देख रहा हूँ। अपनी आंखों पर कैसे अविश्वास करूं? सिंह-माता फिर बोली—जो प्रत्यक्ष है, उसकी परीक्षा करनी चाहिए, आकाश का तल कड़ाही जैसा दिखाई पड़ता है और जुगनू आग की चिनगारी जैसा प्रतीत होता है। लेकिन परीक्षा करने से ज्ञात होता है कि आकाश का तल नहीं है और जुगनू भी आग नहीं

है। इसलिए परीक्षा करके तब किसी विषय पर निश्चय करना चाहिए। प्रायः असभ्य लोग सभ्यों जैसे और सभ्य लोग असभ्य जैसे दिखाई पड़ते हैं। तुम विवेक से काम लेकर साधु-असाधु को पहचानो।

ये बातें हो ही रही थीं, इतने में सिंह को खुश करने के लिए खल-दल में से एक कर्मचारी ने आकर सारा भेद खोल दिया। उसकी बातें सुनकर मृगराज ने तत्काल गोमायु को मुक्त करके पुनः प्रधानमन्त्री के पद पर बैठने को कहा। खल-मण्डली में खलबली मच गई।

गोमायु ने सिर झुकाकर कहा—राजन्, आपने अपनी प्रतिज्ञा को तोड़कर मुझे अपमानित किया है। मुझे एक बार सम्मान देकर मेरे शत्रुओं के कहने से स्थान-भ्रष्ट किया है। ऐसी दशा में मैं अब यहां नहीं रह सकता। आप मेरे प्रति शंकित हैं, मैं आपसे भयभीत हूँ। ऐसी दशा में परस्पर विश्वास नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त षड्यन्त्री लोग आपके निकट प्रबल हैं। मैं यहां रहूँगा तो वे रोज़ नया-नया छल करेंगे, जिससे पाप की ही वृद्धि होगी। अतएव मेरा यहां से चला जाना ही अच्छा है। जो प्रीति एक बार टूटकर फिर जुड़ती है वह बहुत मधुर नहीं होती। अब आप मुझे स्नेहपूर्वक

यहां से विदा कीजिए—खलों के बीच रहने की अपेक्षा श्मशान में रहना अधिक अच्छा है।

सिंह ने अपने कर्म पर पश्चात्ताप करके उस साधु जीव को वहां से स्नेह और सम्मानपूर्वक विदा किया। जाने से पहले उसने स्वामी से अपने द्रोहियों के लिए क्षमा करने की प्रतिज्ञा करा ली।

१०

कल्याणकारी का प्रभाव

प्राचीन समय में परपुंजय नाम का एक राजकुमार एक बार शिकार खेलने गया। उसने दूर एक कृष्णमृग-चर्मधारी मुनि को काला मृग समझकर बाण से मार दिया। पास जाने पर उसे अपनी भूल मालूम हुई, लेकिन तब तक मुनि प्रत्यक्ष रूप से मर चुका था। राजकुमार ने लौटकर सारा हाल अपने घरवालों से कहा। ब्रह्म-हत्या का समाचार सुनकर सारा क्षत्रिय-परिवार शोक से विह्वल हो गया। सब उस मृग मुनि के सम्बन्धियों की खोज में चले। वे उसके निकट के

सम्बन्धी के सामने अपना दोष मानकर क्षमा मांगना चाहते थे।

क्षत्रिय लोग ढूंढ़-ढूंढ़कर थक गए, लेकिन उस मुनि का कोई सम्बन्धी न मिला। थके-थकाए वे महर्षि कश्यप के तपस्वी पुत्र अरिष्टनेमि के आश्रम में पहुंचे। तपस्वी से उन्होंने सारा वृत्तान्त बताकर पाप का प्रायश्चित्त पूछा। तपस्वी ने कहा—चलो, पहले शव को देख लें, तब निर्णय करें कि अपराध हुआ है या नहीं।

क्षत्रिय लोग उनको लेकर उस ओर चले जहां बाण से चोट खाकर मुनि गिरा था। पीछे-पीछे आश्रम के बहुत-से चेले भी चले। उस स्थान पर पहुंचने पर किसी-को कोई शव नहीं दिखाई पड़ा। ठाकुर लोग इधर-उधर ढूंढ़ने लगे। तब अरिष्टनेमि ने एक आश्रमवासी की ओर इशारा करके परपुंजय से कहा—कहीं मेरा यह पुत्र ही तो वह तपस्वी नहीं था, जिसे तुमने बाण से मारा था?

परपुंजय ने उसे देखते ही पहचान लिया। जिसे वह मार चुका था, उसीको सामने जीवित खड़ा देखकर राजकुमार को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह मुनि के चरणों पर गिरकर क्षमा मांगता हुआ बोला—तपस्वी, आपको तो मैं मरा हुआ छोड़ आया था, आप जीवित और

स्वस्थ कैसे हो गए ? क्या यह किसी तप या मन्त्र का प्रभाव है, जिससे आप मृत्यु के मुख से निकल आए ? आप अपना रहस्य बताकर हमें ब्रह्म-हत्या के पाप से मुक्त होने का आशीर्वाद दें, यही हमारी प्रार्थना है।

मुनि ने कहा—राजकुमार, मृत्यु मुझ पर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती। इसका कारण सुनो—हम मिथ्या व्यवहार नहीं करते, धर्म के अनुसार आचरण करते हैं, किसीकी निन्दा नहीं करते, यथाशक्ति सबकी सेवा करते हैं और अपने आश्रितों को पहले सन्तुष्ट करके तभी अपने सुख की ओर ध्यान देते हैं, इसलिए हमें मृत्यु का भय नहीं है। और सुनो—हम पवित्र देशवासी हैं; स्वभाव-कर्म से शान्त, उदार, क्षमाशील और परोपकारी हैं, इसलिए हमें किसी प्रकार के अनर्थ का भय नहीं सताता। हम सबका हित ही करते हैं, अतएव कोई हमारा अहित नहीं कर सकता। तुम ब्रह्म-हत्या के पापी नहीं हो, क्योंकि मृत्यु मुझ पर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकी। जो कुछ तुमने किया है, उसके बदले में मैं तुम्हारा कल्याण ही चाहता हूं।

यह कहकर स्वस्थ मुनि ने सब क्षत्रियों को आशीर्वाद देकर वहां से विदा किया।
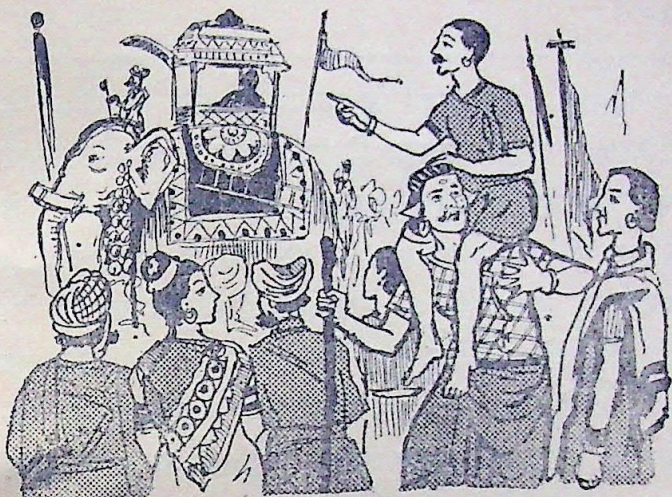
११

सत्पुरुष का लक्षण

प्राचीन समय में ऋभु नामक एक प्रसिद्ध तत्त्व-ज्ञानी महर्षि थे। ये अपने आश्रम में अनेक शिष्यों को वेद-शास्त्र की शिक्षा देते थे। इनका एक अत्यन्त प्रिय शिष्य निदाघ था। निदाघ जब अपनी पढ़ाई पूरी कर चुका तो गुरु ने उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने को कहा। चलते समय उसे गुरु ने यह अन्तिम उपदेश दिया कि जीवन का सच्चा लाभ आत्म-ज्ञान प्राप्त करने में है, गृहस्थ होकर भी उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना।

निदाघ घर आया और विवाह करके सुखपूर्वक रहने लगा। बहुत दिनों बाद एक दिन ऋभु को उसकी

याद आई। वे तपोवन से नगर की ओर यह देखने के लिए चल पड़े कि उसका शिष्य उनकी शिक्षा के अनुसार आचरण कर रहा है या नहीं। चलते-चलते वे नगर के राजमार्ग पर पहुंचे। वहां उस दिन बड़ी भीड़ थी। अनेक राज-कर्मचारी बीच-मार्ग से लोगों को हटा रहे थे। सड़क के दोनों ओर सहस्त्रों लोग जमा थे। वहीं एक कोने में निदाघ भी खड़ा था। ऋभु ने उसे तुरन्त पहचान लिया, लेकिन वह उन्हें न पहचान सका। उसका ध्यान उस समय उस मार्ग की ओर था जिसपर धूमधाम से वहां के राजा की सवारी निकल रही थी।

ऋभु ने उसके पास जाकर पूछा—क्यों भाई, यह क्या है?

निदाघ बोला—राजा की सवारी निकल रही है।

ऋभु ने फिर कहा—तुम तो जानकार मालूम पड़ते हो, यह बताओ, इनमें कौन राजा है और कौन अन्य लोग हैं।

निदाघ—जो हाथी पर सवार है वही राजा है।

ऋभु—मैं ठीक-ठीक नहीं समझ रहा हूँ। मुझे यह बताओ कि ऊपर क्या है और नीचे क्या है। हाथी और राजा का भेद ठीक-ठीक समझाकर कहो?

निदाघ ने झुंझलाकर कहा—अरे मूर्ख, जो नीचे

है वह हाथी है, और जो ऊपर है वह राजा है।

ऋभु—यह भेद ठीक से समझ में नहीं आता। इस ढंग से समझाओ कि मैं समझ जाऊं कि ऊपर-नीचे कौन-कौन हैं।

सन्त की बातों से क्रुद्ध होकर निदाघ उछलकर उनके कन्धे पर बैठ गया और बोला—अब समझो मूढ़, मैं राजा की भांति तुम्हारे ऊपर हूँ और तुम हाथी की तरह नीचे हो। राजा-हाथी का भेद अब तुम अच्छी तरह समझ गए होगे?

ऋभु ने उसके इस व्यवहार पर तनिक भी क्रोध प्रकट नहीं किया। वे पहले से भी अधिक शान्त होकर बोले—अब इस स्थिति में ठीक-ठीक पहचानकर बताओ कि तुम कौन हो और मैं कौन हूँ।

निदाघ की सोई हुई बुद्धि जग गई। वह उनके कन्धे पर से कूद पड़ा और दण्डवत् करके बोला—आर्य, आप अवश्य मेरे गुरुदेव ऋभु हैं, क्योंकि अन्य कौन ऐसा समदर्शी और क्षमाशील हो सकता है? आपके ये गुण ही आपका परिचय दे रहे हैं।

ऋभु स्नेहपूर्वक शिष्य से मिले और उसे आत्म-ज्ञान प्राप्त करने तथा भेद-भाव त्यागने का उपदेश देकर अपने आश्रम को लौट आए।
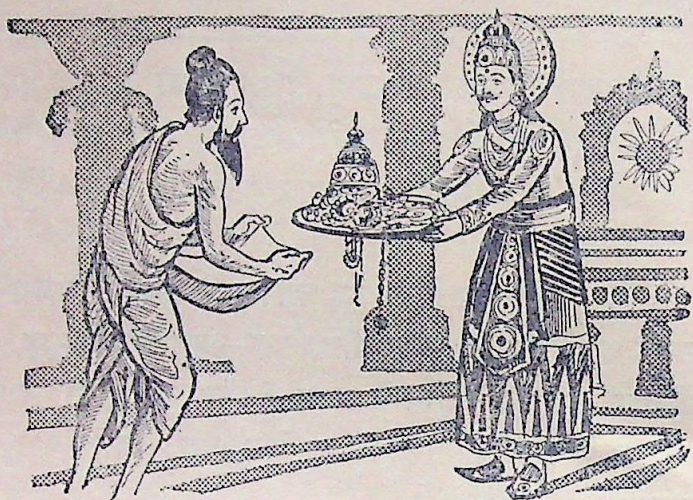
१२

साधुता की परीक्षा

प्राचीन समय में सेन्दुक और वृषदर्भा नामक दो राजा थे। दोनों ही दानी, नीतिज्ञ और शूरवीर थे। वृषदर्भा का यह व्रत था कि याचक ब्राह्मण को सदैव सोना ही दूंगा। सेन्दुक उसके इस व्रत को जानता था।

एक दिन एक ब्राह्मण गुरु-दक्षिणा में देने के लिए १०००० घोड़े मांगता हुआ सेन्दुक के पास आया। सेन्दुक ने कहा—मेरे पास तो घोड़े नहीं हैं, लेकिन यदि तुम राजा वृषदर्भा के पास जाओ तो वह तुम्हारी कामना पूर्ण करने में समर्थ है।

ब्राह्मण ने वृषदर्भा के पास जाकर याचना की। वृषदर्भा उसकी याचना सुनते ही उसको कोड़े से पीटने लगा। कोड़ों की मार से व्याकुल और क्षुब्ध होकर ब्राह्मण चिल्लाया—रे आततायी, तू मुझे अकारण क्यों मारता है, अभी मैं तुझे ब्रह्मशाप से नष्ट कर देता हूँ।

वह शाप देने को उद्यत हो गया। तब राजा ने कहा—क्या यही तुम्हारा ब्राह्मणपन है कि जो अपना धन तुम्हें न दे उसे तुम शाप देने लगो ? जो अपना सारा धन सज्जनों का मानता है क्या उसे शाप देना उचित है ?

राजा की बात सुनते ही ब्राह्मण शान्त हो गया। उसे ध्यान हुआ कि ज्ञानी-साधु का प्रथम लक्षण है क्षमाशील होना। उसने कहा—महाराज, मैं तो सेन्दुक की शिक्षा से यहां भिक्षा मांगने आया था; मेरा उद्देश्य यह नहीं था कि आपका व्रत खण्डित हो।

ब्राह्मण के सहनशील होने पर राजा ने चाबुक की मार बन्द करके कहा—तपस्वी, तुम ठहरो, मैंने तुम्हें दु:ख दिया है, इसलिए बिना तुम्हारी कामना पूर्ण किए उसको कैसे दूर किया जा सकता है। मेरे पास घोड़े तो नहीं हैं, लेकिन मैं तुम्हें अपने राज्य की कल

की सारी आय दे दूंगा। उससे घोड़े खरीद लेना।

दूसरे दिन की राज्य की आय एक हज़ार घोड़ों के मूल्य से कहीं अधिक थी। राजा ने उसे ब्राह्मण को देकर सम्मानपूर्वक विदा किया।
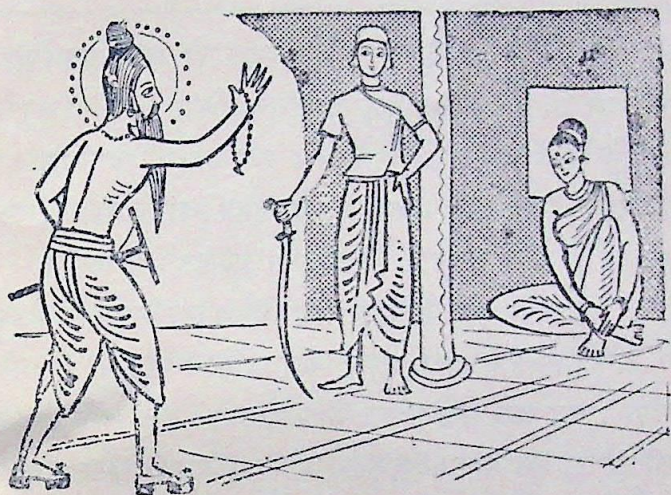
१३

चिरकारी होने का लाभ

महर्षि गौतम के कई पुत्र थे। उनमें से एक का नाम था चिरकारी। इस नाम के पीछे एक कारण था। वह प्रत्येक कार्य को सोच-सोचकर करता था। जो काम उसे करना होता था। पहले उस विषय में बहुत समय तक चिन्तन करता था। नतीजा यह होता कि प्रत्येक कार्य में विलम्ब हो जाता। इसलिए लोग उसे चिरकारी कहा करते थे। वे उसे आलसी और मूढ़ समझते थे लेकिन वास्तव में वह बड़ा दृढ़ निश्चयी और दूरदर्शी था।

एक बार महर्षि गौतम ने अपनी स्त्री अहल्या

के चरित्र पर सन्देह करके चिरकारी को उसका वध कर डालने को कहा। पुत्र को इसके लिए नियुक्त करके महर्षि स्वयं जप-तप करने चले गए। उन्हें विश्वास था कि उनका वह पितृ-भक्त बालक उनकी आज्ञा का पालन अवश्य ही करेगा चाहे विलम्ब से ही क्यों न करे।

पिता के चले जाने के बाद चिरकारी अपने स्वभाव के अनुसार देर तक अपने कर्तव्य के विषय में सोचने लगा। वह बड़े धर्म-संकट में पड़ गया। एक ओर पिता की आज्ञा का पालन करना धर्म था; दूसरी ओर उसके पालन से मातृहत्या के भयंकर पाप का विचार। पिता का वचन मानना उसका परम धर्म था और माता की रक्षा करना भी। दोनों एकसाथ नहीं हो सकते थे। माता को न मारने से पिता की अवज्ञा होती थी और मारने से स्त्री-हत्या का भीषण दोष लगता था।

चिरकारी सोचने लगा कि पिता जैसी आज्ञा दें वही धर्म है, यही वेद का भी निश्चित मत है; पिता के प्रसन्न रहने से सारी दैवी शक्तियां मनुष्य का कल्याण करती हैं; पिता से पुत्र की उत्पत्ति होती है; पिता द्वारा ही उसका पालन-पोषण होता है। ऐसी दशा में पिता के आदेश को मानना पुत्र का परम कर्तव्य है।

पिता के पक्ष में मन ही मन तर्क-वितर्क करके

वह फिर सोचने लगा—माता का गौरव पिता से कम नहीं, बल्कि कई गुना अधिक ही है। माता के समान दुःखहरण करने वाला, आश्रय देने वाला, रक्षा करने वाला और प्रेम करने वाला संसार में दूसरा कोई नहीं है। वह कोख में संतान को धारण करती है, इसलिए उसे धात्री कहते हैं; उससे जन्म होता है, इसीलिए उसे जननी कहा जाता है; उसके द्वारा ही बालक के अंगों की पुष्टि होती है, इसलिए उसे अम्बा कहा जाता है; वह वीर पुत्र उत्पन्न करती है, इससे वीरप्रसू कहलाती है और शिशु की सेवा करने के कारण शुश्रू कही जाती है। माता ही पुत्र की प्रत्यक्ष देह है। उसीके संकल्प के अनुसार पुत्र का विकास होता है। पुरुष कैसा ही श्रीहीन क्यों न हो, घर में आने पर वह माता द्वारा आदर ही पाता है। ऐसी स्नेहमूर्ति का वध मैं कैसे करूँगा !

माता के पक्ष में विचार करके वह फिर सोचने लगा—मेरे पिता मेरी माता के पति हैं, इसलिए उनका निर्णय ही सर्वमान्य है। पुत्र कभी स्वतन्त्र नहीं है। मुझे पिता का आज्ञाकारी बनकर माता का वध करना चाहिए। जातकर्म-संस्कार के अवसर पर पिता पुत्र के लिए कहता है कि 'प्रस्तर हो' अर्थात् पत्थर की भांति दृढ़ हो और 'परशु हो' अर्थात् फरसे की भांति

शत्रुनाशक बनो। मुझे पिता की कामना को पूर्ण करते हुए दृढ़तापूर्वक उनके शत्रु का वध करना चाहिए।

इसके बाद चिरकारी फिर माता की महिमा के विषय में विचार करने लगा। इस तरह सोचते-विचारते बहुत समय बीत गया। वह कुछ भी निश्चय नहीं कर पाया। इसी बीच में गौतम को ज्ञान हुआ कि अहल्या निर्दोष है, अतएव उसका वध होने से उन्हें बड़ा पाप लगेगा। वे तपस्या छोड़कर घर की ओर दौड़े। उन्हें विश्वास था कि पुत्र अहल्या को मार चुका होगा। वे यह कहते हुए घर के भीतर आए—हे चिरकारी, ऐसे घोर पाप से मुझे कौन बचाएगा; आज तुमने यदि अपने नाम को सार्थक किया होगा तभी मेरा तथा तुम्हारी माता का परित्राण होगा; आज तुम्हारा चिर-अभ्यस्त गुण सफल हो।

यह कहते हुए व्याकुल गौतम घर के आंगन में पहुँचे। वहां चिरकारी हाथ में शस्त्र लिए माता के सामने खड़ा हुआ विचारों में मग्न था। पिता को देखते ही वह उनके चरणों पर गिर पड़ा और आज्ञापालन के लिए उद्यत हो गया।

गौतम ने उसे गले लगा लिया और कहा—पुत्र, मैं अपनी आज्ञा वापस लेता हूँ; तुम्हारी माता निर्दोष

है। तुमने यदि सोच-विचार में इतना समय न बिता दिया होता तो आज महा अनर्थ हो जाता। विचार करके निश्चय करने से कभी पछताना नहीं पड़ता। क्रोध, अभिमान, द्रोह, पापकर्म, अप्रिय कार्य और कर्तव्य के निश्चय में चिरकारी मनुष्य ही श्रेष्ठ होता है। इन-में शीघ्रता करनेवाला भूल करता है। चिरकारी, तुम्हारे इस गुण ने आज मेरे पुण्य, तुम्हारे धर्म और तुम्हारी माता के जीवन की रक्षा की है।

१४

अमूल्य सम्पत्ति

जनक के वंश में केशिध्वज और खाण्डिक्य नाम के दो राजा थे। केशिध्वज शास्त्रों का पण्डित था और खाण्डिक्य यज्ञ आदि कराने के विधान में प्रवीण था। दोनों एक-दूसरे से स्पर्द्धा रखते थे। एक बार अवसर पाकर केशिध्वज ने खाण्डिक्य के राज्य पर चढ़ाई कर दी और जीतकर उसे बाहर निकाल दिया। खाण्डिक्य को अपनी पराजय का कुछ भी दुःख न हुआ। वह अपने मन्त्रियों और पुरोहितों के साथ जाकर वन में रहने लगा।

इधर केशिध्वज एक यज्ञ करने चले। संयोग से उनकी यज्ञ की गाय को वन में एक सिंह ने मार डाला। इस प्रकार यज्ञ में विघ्न पड़ गया। केशिध्वज ने बड़े-बड़े पण्डितों और मुनियों से इसका प्रायश्चित्त पूछा लेकिन कोई नहीं बता सका। सबने यही कहा कि इसका ठीक प्रायश्चित्त तो खाण्डिक्य ही बता सकता है, क्योंकि वही कर्मकाण्ड का पण्डित है।

केशिध्वज वन में जाकर खाण्डिक्य से मिलने को तैयार हुआ। उसके मन्त्रियों ने शत्रु के पास जाने से उसे मना किया लेकिन राजा ने कहा—मैं अवश्य जाऊंगा; यदि खाण्डिक्य पुराने वैर का बदला लेने के लिए मुझे मार डालेगा तो मुझे वीरगति मिलेगी अन्यथा मेरा यज्ञ पूरा होगा।

यह कहकर केशिध्वज मृगछाला ओढ़े और हाथ में कुश लिए उस वन में गया जिसमें खाण्डिक्य रहता था। खाण्डिक्य ने उसे दूर से आते देखकर अनुमान किया कि वह उसका वध करने आ रहा है। उसने हाथ में धनुष-बाण उठाकर केशिध्वज को ललकारा। केशिध्वज ने उससे अपने आने का प्रयोजन बताया। इसे सुनकर खाण्डिक्य के मन्त्रियों ने अपने राजा को गुप्त सलाह दी कि मौके से मिले हुए अपराधी को मार

डालिए । खाण्डिक्य ने कहा—यह परमार्थ के विरुद्ध है, मैं अस्त्र-शस्त्र-रहित व्यक्ति पर वार नहीं करूंगा ।

केशिध्वज को उसने प्रायश्चित्त का ठीक-ठीक विधान बता दिया । उसे समझकर राजा अपनी राजधानी में आया । वहां उसने विधिवत् यज्ञ पूर्ण किया और उपस्थित विद्वानों को यथोचित दान दिया । यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण हो गया, फिर भी उसके मन को शान्ति नहीं मिली । उसे यज्ञ में कोई अपूर्णता खटकती थी । बहुत सोचने-विचारने पर राजा को ध्यान हुआ कि शास्त्र की आज्ञानुसार अभी खाण्डिक्य को गुरु-दक्षिणा नहीं मिली है । वह राजवेश में धनुष-बाण लेकर रथ पर चढ़कर खाण्डिक्य से मिलने चल पड़ा ।

खाण्डिक्य के मन्त्रियों ने उसे दूर से देखकर अपने स्वामी से कहा—देखिए, वह दुष्ट स्वार्थ सिद्ध करने के लिए पहले यति बनकर आया था, अब आपके बताए हुए विधान से अपना यज्ञ पूर्ण करके वह आपको मारने आ रहा है ।

वनवासी राजा भी धनुष पर बाण चढ़ाकर युद्ध के लिए खड़ा हो गया । केशिध्वज समीप आकर खाण्डिक्य के चरणों पर गिर पड़ा और बोला—आपके ज्ञान से लाभ लेकर मैंने अपना कर्म पूर्ण कर लिया ; अब

मैं गुरु-दक्षिणा देने आया हूँ; आप जो भी मांगें मैं देने को तैयार हूँ।

खाण्डिक्य के मन्त्रियों ने सम्पूर्ण राज्य मांगने की सलाह दी लेकिन वह बोला—शक्तिहीन व्यक्ति राज्य लेकर क्या करेगा ? यदि मैं शक्तिहीन न होता तो वह मुझे पराजित कैसे करता ! यदि मैं आज छल करके केशिध्वज से उसका या अपना ही सम्पूर्ण राज्य ले लूं तो कल कोई दूसरा बलवान् राजा मुझे बलहीन जानकर उसे मुझसे छीन लेगा। इसके अतिरिक्त, याचना करना क्षत्रिय-धर्म के विरुद्ध है।

मन्त्रियों के मत को अस्वीकार करके उसने केशिध्वज से कहा—राजन् तुम विद्या के धनी हो, गुरु-दक्षिणा में मुझे शुद्ध ज्ञान का उपदेश दो।

खाण्डिक्य की बात से केशिध्वज को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह समझता था कि वनवासी राजा अपना खोया हुआ ऐश्वर्य मांगेगा, लेकिन उसने रूखे-सूखे उपदेश मांगे।

केशिध्वज ने कहा—खाण्डिक्य, इस मूल्य-रहित वस्तु के स्थान पर मुझसे सम्पूर्ण राज्य क्यों नहीं मांग लेते ! ज्ञान लेकर क्या करोगे !

खाण्डिक्य ने गम्भीरता से कहा—राजन्, मैंने तुमसे

अमूल्य वस्तु मांगी है। ज्ञान ही सुख का मूल है; वही मुक्तिदायक है। हृदय में शुद्ध ज्ञान हो तो मनुष्य राज्य के बिना भी सच्ची शान्ति पा सकता है। अज्ञान शोक का कारण है। अज्ञानी व्यक्ति राजसिंहासन पर बैठकर भी जीवन का सच्चा आनन्द नहीं पा सकता। मैं नाशवान् राज्य की अपेक्षा ज्ञान जैसी स्थायी सम्पत्ति को अधिक मूल्यवान् समझता हूँ। तुम मुझे वही दो।

केशिध्वज ने उसे आत्मज्ञान का उपदेश दिया। उससे उसे एकान्त वन में भी मानसिक शान्ति मिलने लगी।

१५

स्वार्थ की मित्रता

एक वन में एक विशाल बरगद का वृक्ष था। वह सावन के बादल की तरह दूर तक छाया हुआ था। उसकी जड़ में पलित नाम का एक चूहा बिल बनाकर रहता था। ऊपर लोमश नामक एक बिलाव बहुत दिनों से अपने परिवार-सहित वास करता था। उसी वन में रहनेवाला एक चांडाल प्रतिदिन सन्ध्या को बरगद के नीचे जाल बिछा जाता और दूसरे दिन सवेरे आकर फंसे हुए जीवों को पकड़कर जाल समेट लेता था।

एक रात को लोमश ही उस जाल में फंस गया।

उसे बन्धन में देखकर नित्य भयभीत रहनेवाला चूहा निर्भय होकर घूमने लगा। अपने शत्रु का उपहास करके वह जाल के ऊपर बंधा हुआ मांस खाने लगा। थोड़ी ही देर में उसे सामने से एक दुष्ट नेवला आता दिखाई पड़ा। पलित के होश उड़ गए। नेवला आकर उसके बिल के निकट ही बैठ गया। पलित अपने प्राण बचाने की चिन्ता में था, इतने में पेड़ की डाली पर एक उल्लू आकर बैठ गया। वह भी चूहे का पुराना वैरी था और उसे खाने की ताक में ही आया था। इस प्रकार चतुर चूहा वैरियों से घिर गया। वहां पर रहने से ऊपर से उल्लू द्वारा खाये जाने का भय था और भागने में नेवले से।

पलित चौकन्ना होकर सोचने लगा—बुद्धिमान् वही है जो कठिन विपत्ति में पड़कर भी उसमें न फंसे। इस समय मुझे अपने प्राण की रक्षा के लिए इस विपत्ति में पड़े हुए वैरी बिलाव से मित्रता करके अपना पक्ष प्रबल कर लेना चाहिए। यह मेरा सदा का शत्रु है, फिर भी इसका उपकार करके मैं इसके बल पर इन दोनों शत्रुओं को भगा सकता हूँ। विपत्तिग्रस्त होने के कारण यह आसानी से मेरे साथ सन्धि कर लेगा। यद्यपि यह नीति-शास्त्र नहीं जानता फिर भी मैं इसे अपने दोनों के हित

की बातें समझाकर पण्डित बना लूंगा ।

ऐसा सोचकर चूहा बिलाव से बोला—मित्रवर, मैं तुम्हारे दीर्घजीवी होने की कामना करता हूं । तुम भय मत करो; मैं इस दुर्दिन मैं तुम्हारी रक्षा करने आया हूँ । यदि तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरी हिंसा न करोगे तो मैं इस आपत्ति से तुम्हें छुड़ाने का यत्न कर सकता हूँ । हम दोनों वर्षों से इस स्थान पर वास कर रहे हैं; एक-दूसरे के दु:ख में सहायक होना हमारा कर्तव्य है । देखो, इस समय ऊपर से यह दुष्ट उल्लू मुझपर ताक लगाए है और नीचे से नेवला। यदि तुम इन दोनों से मेरे जीवन की रक्षा करने का वचन दो तो मैं तुम्हारा मृत्युपाश काट दूंगा।

बिलाव को चूहे का प्रस्ताव बहुत प्रिय लगा। वह उसे अभयदान देकर बोला—पड़ौसी भाई, हम दोनों घोर विपदा में हैं; सन्धि करके हमें परस्पर एक-दूसरे का कल्याण करना चाहिए । मैं तुम्हारी शरण में हूँ । मेरे उद्धार का उपाय करो । संकट से मुक्त होने पर मैं आजीवन तुम्हारा ऋणी रहूँगा । तुम्हारे मरने पर तुम्हारी मूर्ति बनाकर उसे पूजूंगा ।

पलित बोला—मुझे नेवले और उल्लू से बड़ा भय लगता है, इसलिए मैं तुम्हारे समीप बैठता हूँ । तुम मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हारी इस जाल से रक्षा करूंगा ।

विश्वासघात न करना।

लोमश ने बड़े स्नेह से उसे अपने पास बैठने को बुला लिया। बुद्धिमान् चूहा अपने महाशत्रु की गोद में जा बैठा। इसे देखकर नेवला निराश होकर वहां से चला गया। कुछ देर में उल्लू भी शिकार को हाथ से गया हुआ जानकर उड़ गया।

पलित जान-बूझकर धीरे-धीरे जाल को काटने लगा। इसपर लोमश बोला—भाई, तुम जल्दी क्यों नहीं करते। मालूम होता है अब अपना काम निकालकर मेरी अवहेलना कर रहे हो। विलम्ब न करो; चाण्डाल आता ही होगा।

पलित बोला—लोमश, मैं समय के महत्त्व को जानकर काम करता हूँ। समय देखकर जो काम नहीं किया जाता, वह सिद्ध नहीं होता। यदि तुम समय से पहले छूट जाओगे तो मेरे लिए भय का कारण बन जाओगे। इसलिए समय आने दो, तब तुम्हारे सभी बन्धन काट दूंगा। जब चाण्डाल सामने आ जाएगा उस समय तुम मुक्त होने पर जल्दी से जल्दी पेड़ के ऊपर भागोगे और मैं बिल में चला जाऊंगा। इस प्रकार हमारी सन्धि की शर्तें पूरी हो जाएंगी और तुम्हें इतना अवकाश नहीं मिलेगा कि तुम मेरी हिंसा कर सको।

जो बलवान् के साथ सन्धि करके आत्मरक्षा का उपाय नहीं करता, वह स्वयं नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार बातें करते-करते रात बीत गई। चूहे ने एक तांत को छोड़कर शेष को काट डाला। सवेरा होते ही दूर से महाभयावना चाण्डाल शिकारी कुत्तों के साथ आता दिखाई पड़ा। उसके निकट आते ही चूहे ने अन्तिम तांत काट दी। लोमश प्राण बचाकर पेड़ पर चढ़ गया। पलित भागकर बिल में घुस गया। चांडाल निराश होकर जाल के साथ घर चला गया।

चाण्डाल के जाने के बाद लोमश ऊपर से चूहे को पुकारकर बोला—भाईजी, आपका उपकार मैं कभी नहीं भूलूंगा। बाहर आइए; हम लोग आनन्दोत्सव मनाएं। मेरे सब भाई-बन्धु आपके दर्शनों के लिए आतुर हैं। जल्दी आइए, भाई साहब, हम आपको अपना घरबार सौंपकर पितृवत् आपका सम्मान करेंगे। आप शुक्राचार्य की तरह नीतिज्ञ हैं; हमारे गुरु होकर रहें। आइए, आइए मित्रवर, आपका वियोग हमें खल रहा है; अब तो आपके बिना एक क्षण भी नहीं बीतता।

भीतर से चूहा बोला—लोमशजी, जिस प्रयोजन के लिए हमारा-आपका मिलाप हुआ था, वह समाप्त हो गया। मित्रता अकारण नहीं होती। इसलिए जब

बीच से स्वार्थ निकल गया तो हमारा-आपका मेल कैसा ? हम दोनों तो विरोधी स्वभाव के जीव हैं, इसलिए हममें सहज मित्रता नहीं हो सकती । कोई ऐसा कारण नहीं, जिससे मैं आपका प्रिय बन सकूं । इस समय आप जो स्नेह प्रदर्शित कर रहे हैं, वह समय और स्वभाव के विरुद्ध है ।

लोमश ने फिर कहा—मित्र, आप कैसी बातें करते हैं ? मैं शुद्ध हृदय से आपके साथ दृढ़ मित्रता कर चुका हूं । बाहर आकर देखिए, मैं कैसा प्रेम दिखाता हूं । मैं तो आपके बिना बेचैन हो रहा हूं ।

पलित बोला—आपके स्वभाव में दृढ़ता कहां से आई ? आप तो मन से इतने चंचल हैं कि पेड़ से उतरते ही लोभवश जाल में कूद पड़े थे । आपका हृदय शुद्ध कहां से होगा ? आप भूख से व्याकुल होकर पेड़ से आहार की खोज में उतरे थे । तब से भूखे ही हैं । अब आप आसानी से अपना भोजन निकट ही पाना चाहते हैं । सो, मैं मूर्खतावश आपका आहार नहीं बनना चाहता । मुझे अपना आहार बनाने के अतिरिक्त अब आपका मुझसे अन्य कोई कार्य नहीं हो सकता । आपके भाई-बन्धु कृतज्ञ हैं तो इतनी ही कृपा बहुत होगी कि मुझे कभी असावधान पाकर मुझपर हमला न कर दीजिएगा ।

लोमश ने उसे तरह-तरह के प्रलोभन दिए, पर नीतिज्ञ चूहा बाहर नहीं आया। वह बिल में से ही बोला—चुपचाप भाग जाओ, नहीं तो चाण्डाल तीर-कमान लेकर आता होगा।

बिलाव भयवश वहां से भाग गया।
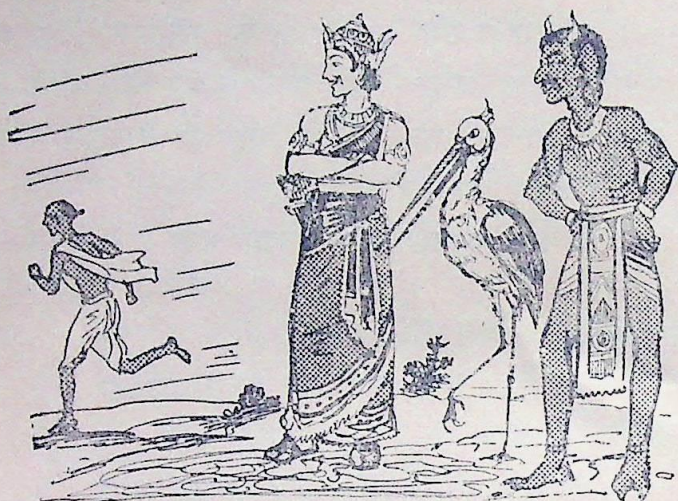
१६

सज्जन-दुर्जन का भेद

किसी देश में एक दरिद्र ब्राह्मण रहता था। उसने वेदशास्त्र का नाम तक नहीं सुना था। वह मूर्ख भीख मांगने को ब्राह्मण का धर्म समझता था।

एक बार वह भीख मांगता-मांगता दुष्टों के एक गांव में पहुँचा। वहां एक धनवान् डाकू रहता था। ब्राह्मण ने उसके द्वार पर जाकर भिक्षा मांगी। डाकू ने मुंहमांगा धन दिया और उसे घर-बार से हीन जानकर अपने यहां रहने का स्थान दे दिया। वह नीचों के संग

रहने लगा। डाकुओं से उसने धनुष-बाण चलाना भी सीख लिया।

धीरे-धीरे भिक्षुक से वह शिकारी बन गया। प्रतिदिन वह वन में जाकर हंसों को मार लाता और पेट भरकर उनका मांस खाता था। संगति के प्रभाव से उसका आचार-विचार नीच डाकुओं जैसा हो गया।

बहुत दिनों बाद एक दिन उस दुष्ट ब्राह्मण के गांव का एक सदाचारी ब्राह्मण उसी गांव में पहुँचा। उसने उसे कंधे पर हंसों का बोझ उठाए, हाथ में धनुष-बाण लिये, रुधिर लपेटे जंगल से लौटते देखकर पूछा—भाई, तुम कुलीन ब्राह्मण होकर यह क्या कर रहे हो?

दुष्ट ब्राह्मण बोला—भैया, मैं एकदम दरिद्र और अशिक्षित हूं, इसलिए पेट पालने के लिए ऐसा नीच व्यवसाय कर रहा हूं।

सदाचारी ब्राह्मण ने उसे बहुत धिक्कारा और नीचों की संगति से अलग हो जाने के लिए बाध्य किया। जाति से निकाले जाने के भय से दुष्ट चुपचाप उस गांव से चला गया। धन की खोज में घूमते-घामते या भूलते-भटकते वह अज्ञानी एक वन में जा पहुँचा। शाम हो गई, इसलिए वह एक बरगद के नीचे लेट गया। थोड़ी रात होने पर उस पेड़ पर एक बगुला

ग्राया । ब्राह्मण भूख से व्याकुल था । इसलिए उसे मारने की चिन्ता करने लगा । बगुले ने बड़े प्रेम से उससे कहा—यात्री तुम्हारा कल्याण हो; भाग्य से तुम ग्रतिथि-रूप में हमारे घर पर ग्राए हो; कहो मैं तुम्हारी क्या सेवा करूं ?

ब्राह्मण ने उससे ग्रपनी भूख-प्यास की वेदना कही । सुनते ही वह पास के सरोवर से बहुत-सी मछलियां चोंच में पकड़ लाया । इसके बाद कहीं से एक जलती हुई लकड़ी भी ले ग्राया । ब्राह्मण ने उससे ग्राग जलाकर मछलियों को भूनकर खा लिया । उसकी भूख मिट गई । तब बगुला उसके बिछाने के लिए पेड़ से बहुत-सी मुलायम पत्तियां तोड़ लाया । ब्राह्मण उनपर लेट गया । पक्षी ग्रपने पंखों से उसे हवा करने लगा । इस प्रकार दीन बगुले ने ग्रतिथि का यथाशक्ति पूर्ण सत्कार किया ।

सवेरा होने पर उसने ब्राह्मण से उसके वहां ग्राने का कारण पूछा । ब्राह्मण बोला—बकराज, मैं महा-निर्धन ब्राह्मण हूं, धन के लिए समुद्र की खोज में हिमालय की ग्रोर जा रहा हूं, सुना है, वहां समुद्र में बड़े-बड़े गजमुक्ता मिलते हैं ।

बगुला मन ही मन समझ गया कि यह मूर्ख है

लेकिन शिष्टतापूर्वक बोला—मित्र तुम धन-चिन्ता से व्याकुल न हो। मैं अब तुम्हें अपना मित्र मान चुका हूं, इसलिए इस काम में तुम्हारी सहायता करूंगा। यहां से आगे बारह मील की दूरी पर मेरा एक मित्र राक्षसराज रहता है। तुम उसके पास जाकर कहना कि मैंने तुम्हें भेजा है। वह तुम्हारा पूर्ण सम्मान करेगा।

इतना कहकर बगुले ने पेड़ पर से कुछ पके फल तोड़कर उसे रास्ते के लिए दिए और आदर-सहित विदा किया। ब्राह्मण जाते-जाते राक्षसराज के भवन पर पहुँच गया। वहां उसने द्वारपाल द्वारा बगुले को बताया हुआ सन्देश भेजा। उसे सुनते ही राक्षसराज ने ब्राह्मण को सम्मानपूर्वक पास बुलाकर श्रेष्ठ आसन पर बिठाया और उसका परिचय पूछा। वह अपना सारा इतिहास सुनाने लगा। तब राक्षसराज ने उससे ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में पूछताछ की। ज्ञानशून्य ब्राह्मण कुछ न बता सका। राक्षसराज समझ गया कि यह नाम ही का ब्राह्मण है और कर्मों से पतित हो चुका है। फिर उसने अपने मित्र बगुले का ख्याल करके उसके भेजे हुए इस आदमी को सन्तुष्ट करना उचित समझा। उस दिन उसके यहां एक हज़ार ब्राह्मणों का भोज था। राक्षसराज ने उस ब्राह्मण को भी ब्रह्म-भोज

में सम्मिलित कर लिया। इस पेटू ब्राह्मण ने प्राणों का मोह त्यागकर खूब ठूंसकर खाया। भोजन समाप्त होने के बाद राक्षसराज ने सबको मुंहमांगा दान दिया। ब्राह्मण ने भी उससे ढेर का ढेर सोना मांग लिया।

सोने का ढेर सिर पर उठाकर राक्षसराज के पास से विदा हुआ और उसी बरगद के पेड़ के नीचे पहुंचा। अधिक भोजन करने और भार उठाकर चलने के कारण वह थककर वहीं विश्राम करने लगा। शाम को वही बगुला फिर आया। उसने ब्राह्मण को कृतकृत्य होकर लौटा देखकर उसका स्वागत किया और पिछली रात की तरह आदर-सत्कार किया। जब अतिथि खा-पीकर लेट गया, तो वह साधु-भाव से वहीं बैठकर अपने पंखों का पंखा झलने लगा। दुष्ट विप्र लेटे-लेटे सोंचने लगा कि आगे के लिए भोजन-सामग्री नहीं है, इसलिए इस बगुले को मारकर साथ रख लूं तो खाने का प्रश्न हल हो जाएगा।

ऐसा सोचकर उसने बगुले को वहीं मार डाला। उसे लटकाकर वह सवेरे अपने गांव की ओर चल पड़ा। इधर राक्षसराज ने दूसरे दिन सवेरे बगुले को न देखकर अपने पुत्र से कहा——वत्स, मेरा मित्र बकराज प्रतिदिन मुझसे मिलने आता था, आज क्यों नहीं आया?

जाकर देखो कि कहीं वह किसी संकट में तो नहीं पड़ गया ! यदि वह अपने निवास-स्थान पर न मिले तो उस ब्राह्मण की खोज करना जिसे उसने कल मेरे पास भेजा था। वह उच्च कुल का होकर भी ज्ञान और कर्म से नीच है, इसलिए विश्वासघात कर सकता है। आकृति और प्रकृति दोनों से वह अधम जान पड़ता था।

पिता की आज्ञा पाकर राक्षसराज का पुत्र अपने सैनिकों के साथ बकराज की खोज में चल पड़ा। बरगद के पेड़ पर उसे न पाकर वह ब्राह्मण के गांव की ओर दौड़ा। थोड़ी ही दूर जाने पर उसने देखा कि वह मरे हुए बगुले को लटकाए हुए चला जा रहा है। राक्षस-सैनिकों ने दौड़कर उसे पकड़ लिया।

उसे लेकर वे राक्षसराज के पास आए। बकराज को मरा देखकर राक्षसराज ने तुरन्त ब्राह्मण के वध की आज्ञा दी। राक्षसेन्द्र की आज्ञा से राक्षसों ने तलवार से उसके शरीर को काटकर गिरा दिया। इसके बाद राजा ने उन्हें उसका मांस खा जाने को कहा। राक्षस बोले—हम ऐसे कृतघ्न का मांस नहीं खाएंगे।

तब राक्षसराज ने पुनः कहा—अच्छा, इसे चाण्डालों को खाने के लिए दे दो।

चाण्डालों ने भी उस मित्र-द्रोही का मांस खाना

अस्वीकार कर दिया। उसे कुत्तों ने भी नहीं पूछा। इसके बाद राक्षसराज अपने मित्र बकराज की अन्तिम क्रिया की तैयारी करने लगा। ज्यों ही चिता पर बगुले का मृतक शरीर रखा गया, इन्द्र देवता वहां प्रकट हो गए। उन्होंने उस साधु-जीव को अपने प्रभाव से पुनः जीवित करके अपनी अतिथि-सेवा का पुरस्कार मांगने को कहा। बगुले ने देवराज के सामने सिर झुकाकर कहा—देवदेव, यदि आप मुझपर कृपा करना चाहते हैं तो इस ब्राह्मण को पुनर्जीवित कर दें।

इसपर इन्द्र बोला—जिसने तुम्हारे साथ ऐसा विश्वासघात किया, उसके प्रति तुम्हारा यह प्रेम अनुचित है। उसकी दुर्जनता का स्मरण करके तब वर मांगो।

बकराज बोला—सुरराज, जिसको मैं एक बार अपना मित्र मान चुका, उसका कल्याण करना ही मेरा कर्तव्य है। यदि उसने भूल से मित्र-द्रोह किया है तो मुझे उसका अनुकरण न करना चाहिए। दुष्ट के साथ मैं स्वयं क्यों दुष्ट बनूं ? उसकी दुर्जनता का स्मरण न करके मैं तो अपनी साधुता का ही स्मरण करता हूँ। नीच होकर भी हमें उच्च कर्मों को अपनाना है जिससे हमारा गौरव बढ़े। अतएव मेरा जीवन लेकर

भी यदि मेरे मित्र को जीवित करने को तैयार हों तो ऐसा ही कर दें।

इन्द्र ने बगुले के आग्रह को मानकर उस कुटिल ब्राह्मण को फिर जिला दिया। जीवित होते ही वह बिना किसी को धन्यवाद दिए डाकुओं के गांव की ओर यह कहता हुआ भागा—हाय, मैं रास्ते में खाने के लिए एक मोटे बगुले का मांस लिये जा रहा था, उसे ये दुष्ट लोग छीन लाए। अब मैं क्या खाऊंगा!

घूम-घामकर वह फिर डाकूराज के घर पहुंचकर पहले की तरह नीच कर्म करने लगा।

१७

सत्संगति का फल

एक व्याध शिकार को खोज में एक महावन में घूम रहा था। उसे दूर पर हिरनों का एक बड़ा झुंड दिखाई पड़ा। व्याध ने विष से बुझा हुआ एक तीक्ष्ण बाण निकालकर मृगों पर चलाया। संयोग से निशाना खाली गया और विषबाण जाकर एक बड़े पेड़ के तने में लगा। विष के प्रभाव से वह हरा-भरा वृक्ष सूखने लगा। उसके फल और पत्ते धीरे-धीरे झड़ने लगे।

उसी वृक्ष पर एक तोता बहुत दिनों से वास करता था। वही उसका जन्म-स्थान था। वृक्ष से उसे बड़ी

ममता हो गई थी। उसे सूखते देखकर भी उसने वहीं ठहरने का दृढ़ निश्चय कर लिया। वृक्ष के साथ तोता भी सूखने लगा क्योंकि एक तो उसका चिरसंगी उसकी आंखों के आगे नष्ट हो रहा था, दूसरे फलों के अभाव में उसे निराहार ही रहना पड़ता था। घोर कष्ट सह-कर भी सहृदय तोते ने अपने प्रिय वृक्ष का तिरस्कार करके दूसरे का आश्रय लेना उचित नहीं समझा।

बादलों के राजा इन्द्र ने उस तुच्छ जीव का कठोर तप देखा। वे ब्राह्मण के वेश में उसके पास आकर बोले—शुक, तुम क्यों इस निर्जीव वृक्ष पर बैठे हो; इसमें न तो छाया के लिए पत्ते हैं, न खाने के लिए फल। तुम इस विशाल वन में किसी दूसरे फल-दल सम्पन्न महातरु का आश्रय लेकर सुख से क्यों नहीं रहते ? तुम बुद्धि से अपना हानि-लाभ विचारकर इस सामर्थ्य-रहित वृक्ष को त्याग दो।

तोता लम्बी सांस लेकर बोला—देव, पुरानी प्रीति का तोड़ना इतना सहज नहीं है। मैंने इसी पेड़ पर जन्म लिया है, इसीपर मेरा पालन हुआ है, इसीपर मैंने बाल-क्रीड़ाएं की हैं। जब तक यह वृक्ष समर्थ था इसने उदारतापूर्वक मुझे अपने आश्रय में रखा, धूप और द्रोहियों के आक्रमण से बचाया और यथेष्ट फल खाने

को दिए। जो कुछ इसके पास था इसने उसे कभी मुझसे नहीं छिपाया। यह तो जीवन भर देता ही रहा। कभी इसने मुझसे कोई उपकार नहीं लिया। ऐसी दशा में मैं इसका ऋणी हूँ। आज इसके अच्छे दिनों के गुण ही मुझे बाध्य करते हैं कि मैं इसके बुरे दिनों में भी इसके साथ रहूँ। इसके बिना जीने की अपेक्षा इसके साथ नष्ट हो जाने में मेरी आत्मा को अधिक सुख मिलेगा।

इन्द्र ने प्रसन्न होकर उससे वर मांगने को कहा। तोते ने कहा——मैं तो उस समय की प्रतीक्षा में हूँ जब पौधों का जीवनदायक जल बरसेगा। तब संभव है, मेरे इस मित्र का क्लेश मिट जाए और यह फिर हरा-भरा हो जाए। यदि ऐसा न हुआ तो मैं इसीपर बैठे-बैठे अपने प्राण त्याग दूंगा, जिससे संसार में मित्रता का आदर्श बना रहे। यदि आप वरदान देना चाहते हैं तो यही वर दें कि शीघ्र वर्षा हो; अभी अधिक विलम्ब नहीं हुआ है।

घनपति की आज्ञा से आकाश में मेघ घिर आए। बादलों ने अमृत जैसा जल बरसाया जिससे सूखते हुए वृक्ष में नया जीवन आ गया। तोते ने समय पर साथ देकर वृक्ष का उद्धार कर दिया। वृक्ष उसके लिए पुनः फलवान् हो गया।

१८

आलसी का आत्मनाश

पुराने समय में किसी वन में एक बड़ा परिश्रमी ऊंट रहता था। दिन-भर घूम-घूमकर चरता और सुबह-शाम भगवान् का ध्यान भी कर लेता था। उसके उद्योगी जीवन और भक्ति-भाव से प्रसन्न होकर एक दिन ब्रह्मा ने उससे वर मांगने को कहा। ऊंट बुद्धि से बिल्कुल शून्य था। उसने देवता से कहा—पितामहजी, मुझे चरने के लिए कई कोस का चक्कर लगाना पड़ता है, इससे बड़ा कष्ट होता है। मैं चाहता हूं कि मेरी गर्दन कई कोस लम्बी हो जाए।

विधाता ने कहा—'एवमस्तु !'

बस, काम हो गया। ऊंट की गर्दन देखते-देखते इतनी लम्बी हो गई कि वहीं से बैठे-बैठे बीसों कोस दूर के बबूल चर सकता था।

वर पाकर उसने उद्योग करना ही छोड़ दिया। संयोग से वन में एक दिन भयंकर तूफान आया। ऊंट की लम्बी गर्दन हवा के थपेड़ों से इधर-उधर होने लगी। कष्ट-पीड़ित होकर वह उसे एक बड़ी गुफा में डालकर बाहर बैठ गया। आंधी के साथ घोर वर्षा भी होने लगी। उसी समय एक सियार अपने बाल-बच्चों के साथ भीगता हुआ आया और उस लम्बी-चौड़ी गुफा में घुस कर बैठ गया। वह कई दिनों का भूखा था; भीतर ऊंट की गर्दन को देखकर बाल बच्चों-सहित उसे नोचकर खाने लगा। ऊंट पीड़ा से बेचैन होकर अपनी गर्दन को सिकोड़ने लगा, लेकिन इतनी लम्बी वस्तु को समेटकर बाहर निकाल लेना आसान काम नहीं था। सियार-परिवार ने देखते-देखते उसके गले के नीचे का सारा मांस दांतों से काट-काटकर खा डाला। मूर्ख ऊंट छटपटाकर मर गया। आलसी को दिया हुआ दैवी वरदान उसके लिए अभिशाप बन गया; क्योंकि उसने भाग्य के भरोसे पुरुषार्थ करना छोड़ दिया।

◊ ◊ ◊